खंड : 1 । अंक : 1 । अक्टूबर-दिसंबर, 2020
Volume : 1, Issue : 1, October-December, 2020

Centre for Literary & Cultural Studies
C.L.C.S
साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र

प्राग्ज्योतिका
pragjyotika

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं की शोध-पत्रिका

पूर्वोत्तर भारत केंद्रित विशेषांक

www.pragjyotikapatrika.com

सूचना

01. यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मानकों के अनुसार 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ्रीड' शोध पत्रिका है।
02. पत्रिका में प्रकाशित होने वाले लेखों का प्लेगरिज्म (Plagiarism) टेस्ट अनिवार्य है।
03. शोध लेख हिंदी अथवा अंग्रेजी भाषा में होना चाहिए।
04. शोध संदर्भ, तथ्य, वक्तव्य आदि का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।
05. शोध लेख मौलिक एवं अप्रकाशित होना चाहिए।
06. लेख में शोध संदर्भों का उपयोग अकादमिक शोध नियमों के अनुपात में होना चाहिए।
07. शोध लेख के साथ लेखक अपना संक्षिप्त परिचय, पासपोर्ट आकार का फोटो, ई-मेल तथा मोबाइल नंबर अवश्य लिखें।
08. शोध पत्र 3000 से 5000 शब्दों तक हो सकता है। कंप्यूटर पर अंकित शोध सामग्री ही स्वीकार की जाएगी। इसके लिए हिंदी में यूनिकोड अथवा मंगल फॉन्ट का प्रयोग किया जाए।
09. आप लेख pragjyotikapatrika@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं।
10. प्रत्येक अंक की सूचना पत्रिका की वेबसाइट www.pragjyotikapatrika.com पर उपलब्ध रहेगी।
11. शोध पत्रिका की किसी भी सामग्री का बिना अनुमति अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
12. शोध पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer-Review committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।
13. पत्रिका के सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
14. पत्रिका का प्रकाशन पूर्णतः अव्यवसायिक है।

आवरण चित्र

पूर्वोत्तर भारत के सांस्कृतिक भावबोध को ध्यान में रखकर पत्रिका का आवरण-चित्र लिया गया है। आवरण-चित्र असम के माजुली द्वीप में स्थित 'श्री श्री उत्तर कमलाबारी सत्र' का है। 'श्री श्री उत्तर कमलाबारी सत्र' असम के प्रमुख सत्रों में से एक है। सत्र में धर्मगुरु अपने शिष्यों के साथ रहते हैं, जिन्हें 'सत्राधिकार' कहा जाता है। सत्र में केवल धार्मिक शिक्षा ही नहीं दी जाती अपितु स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता की भी शिक्षा दी जाती है। यहाँ पर रंगमंचीय कलाएं भी सिखाई जाती हैं। सत्रों का भाओना और सत्रीय नृत्य विश्वविख्यात है। सत्र में पारिवारिक एवं सामुदायिक झगड़ों का भी समाधान किया जाता है। सत्र और सत्राधिकार प्राग्ज्योतिषपुर के समाज-जीवन के नियमन का केन्द्र रहे हैं।

खंड : 1 । अंक : 1 । अक्टूबर-दिसंबर, 2020

प्राग्ज्योतिका

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं की 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ्रीड' शोध पत्रिका

संपादक

प्रो. चंदन कुमार
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

संपादन सहयोग

डॉ. सत्य प्रकाश पाल

डॉ. उमेशचन्द्र सिरसवारी

तेजी ईशा

शशि कुमार द्विवेदी

समीक्षा समिति

प्रो. त्रिभुवन प्रसाद
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

प्रो. प्रकाश नारायण
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

प्रो. राकेश कुमार उपाध्याय
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी,
उत्तर प्रदेश-121005

प्रो. ओकेन लेगो
राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर,
अरुणाचल प्रदेश-791111

डॉ. दिब्यज्योति महंत
कृष्णकांत हांडिक राज्यस्तरीय मुक्त विश्वविद्यालय,
गुवाहाटी, असम- 781017

डॉ. नरेंद्र शुक्ल
नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय,
दिल्ली-110011

परामर्श मंडल

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर,
राजस्थान-302004

प्रो. दिनेश चौबे
नॉर्थ-ईस्टर्न हिल विश्वविद्यालय, शिलांग,
मेघालय-793022

प्रो. हरीशकुमार शर्मा
सिद्धार्थ विश्वविद्यालय कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर,
उत्तर प्रदेश- 272202

प्रो. हितेंद्र मिश्र
नॉर्थ-ईस्टर्न हिल विश्वविद्यालय, शिलांग,
मेघालय-793022

प्रो. संजय कुमार
मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आइजोल,
मिज़ोरम- 796004

प्रो. यशवंत सिंह
मणिपुर विश्वविद्यालय, इम्फाल,
मणिपुर-795003

डिजाइनिंग एवं टाइपिंग

जितेन्द्र सिंह
गरिमा त्रिपाठी
हर्षेन्द्र त्रिपाठी

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली-110089

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI- 110089

Volume : 1, Issue : 1, October-December, 2020

pragjyotika

Peer-Reviewed & Refereed Journal of Literature, Humanities, social science and Performing Arts

Editor

Prof. Chandan Kumar
University of delhi, Delhi-110007

Editorial Team

Dr. Satya prakash Pal

Dr. Umesh chandra sirasawari

Tejee isha

Shashi kumar dwivedi

Peer-Review Committee

Prof. Tribhuwan Prasad
University of Delhi, Delhi-110007

Prof. Prakash Narayan
University of Delhi, Delhi-110007

Prof. Rakesh Upadhyay
Banaras Hindu University
Varanasi(UP)-121005

Prof. Oken Lego
Rajiv Gandhi University, Itanagar,
Arunachal Pradesh-791111

Dr. Dibyajyoti Mahanta
Krishna Kanta Handiqui State Open
University, Guwahati, Assam-781017

Dr. Narendra Shukla
Nehru Memorial Museum and Library,
New Delhi-110011

Advisory Board

Prof. Nand Kishore Pandey
University of Rajasthan, Jaipur-302004

Prof.Dinesh Choubey
North Eastern Hill University, Shillong,
Meghalaya- 793022

Prof. Harish kumar Sharma
Siddharth University Kapilvastu,
Siddharth Nagar (UP)-272202

Prof. Hitendra Mishra
North Eastern Hill University, Shillong,
Meghalaya-793022

Prof. Sanjay kumar
Mizoram University, Aizawl,
Mizoram-796004

Prof. Yashwant Singh
Manipur University, Imphal,
Manipur-795003

Designing And Typing

Jitendra singh
Garima tripathi
Harshendra tripathi

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली–110089

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL
STUDIES (CLCS), DELHI- 110089

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान
और प्रदर्शनकारी कलाओं की त्रैमासिक
शोध-पत्रिका- प्राग्ज्योतिका

प्राग्ज्योतिका, खंड : 1, अंक : 1, अक्टूबर-दिसंबर, 2020

© साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

प्रकाशक : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

संपादकीय कार्यालय : यूनिट नंबर-108 (प्रथम तल), वर्धमान एसी मार्केट सी. एस. सी, ब्लॉक-ई, सेक्टर-18, रोहिणी, दिल्ली-110089 (भारत)
मोबाइल : 8368558249
ई-मेल : pragjyotikapatrika@gmail.com

UNIT NO-108 (1ST FLOOR),
VARDHMAN AC MARKET, C.S.C, BLOCK-E
SECTOR-18, ROHINI, DELHI-110089

मूल्य :		
	व्यक्तिगत प्रति अंक	: ₹250
	वार्षिक	: ₹1000
	विदेशों में प्रति अंक	: $ 05
	वार्षिक	: $ 15
	संस्थागत वार्षिक	: ₹1500

मुद्रक : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

इस पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के मत और स्थापनाओं का 'साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली' व 'प्राग्ज्योतिका' का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए स्वामी/प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। किसी भी विवाद के निपटारे का न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

स्वामित्व : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

अनुक्रमणिका

1. संपादक की कलम से................................02
...प्रो. चंदन कुमार

2. पूर्वोत्तर की कविता में देश-राग.....................03
...प्रो. हरीशकुमार शर्मा

3. भारतीय सांस्कृतिक बहुलता और पूर्वोत्तर की भाषाएं...07
....प्रो. हितेंद्र मिश्र

4. आदी धार्मिक लोकगाथाएं : एक अवलोकन..11
...ईड़ परमे, प्रो. ओकेन लेगो

5. तागिन लोकोक्तियां : परिचय, स्वरूप एवं विशेषताएं..15
...डॉ. तारो सिन्दिक

6. अरुणाचल प्रदेश के आदी जनजातीय लोकगीतों में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन........................20
... बनश्री पर्तिन

7. श्रीमंत शंकरदेव के राम..............................23
...मणि कुमार

8. असम के जनजातीय समाज में त्योहारों की प्रासंगिकता...26
...डिम्पी बरगोहाई

9. माजुली की मुखौटा कला............................28
...आदित्य कुमार मिश्र

10. अरुणाचल प्रदेश की मिकिर जनजाति की एक झलक..31
...सिमरन कुमारी

11. सांस्कृतिक वैभव सम्पन्न मेघालय ....
....34
...प्रियंका शुक्ल

12. मणिपुर का लोकनृत्य................................36
...वीरेन्द्र परमार

13. पूर्वोत्तर भारत के समकालीन साहित्य में नारी संवेदना...39
...रोज़ी कामेई

14. तानी कथाएं...44
...जोराम यालाम नाबाम

15. नागार्जुन तथा बिष्णु प्रसाद राभा का काव्य : एक विवेचन 46
...वहीदा परवेज़

संपादक की कलम से...

'प्राग्ज्योतिका' का प्रवेशांक

प्राग्ज्योतिका का यह प्रथम अंक है। आशा है कि संस्कृति, साहित्य, रंगमंच, मानविकी, समाज विज्ञान, लोकलालित्य, प्रदर्शनकारी कलाओं और शिल्प कलाओं की यह शोध पत्रिका आप सभी की बौद्धिक तथा लोकसांस्कृतिक जिज्ञासाओं को शांत करने का माध्यम बनेगी। कला, साहित्य और संस्कृति केंद्रित आलेखों द्वारा समस्त भारत के संवेदना-तंतुओं का संस्पर्श करने का उद्देश्य लेकर यह पत्रिका अपने कलेवर को विस्तार देगी। पत्रिका में हिंदी एवं अंग्रेजी - दोनों भाषाओं के शोध पत्रों को स्थान दिया जाएगा। इस अंक में हमारा प्रयास पूर्वोत्तर भारत की संस्कृति से सहज अनुराग रखने वाले विद्वानों, जिज्ञासु अध्येताओं एवं शोधार्थियों को पत्रिका के माध्यम से एक वैचारिक मंच प्रदान करना है। यह अंक पूर्वोत्तर भारत के साहित्य और कला के साथ संवाद-कामना से निर्देशित है।

आगामी अंकों में 'प्राग्ज्योतिका' समस्त भारत से जुड़े शोध आलेखों को प्रोत्साहन प्रदान करेगी। इस पत्रिका को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के मापदंडों के अनुसार एक 'पीयर रिव्यूड एण्ड रेफ्रीड शोध पत्रिका' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

हिंदी समीक्षा परंपरा के आद्याचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य संबंधी विचारों को आत्मसात करते हुए 'प्राग्ज्योतिका' 'जनता की चित्तवृत्तियों के संचित प्रतिबिम्ब' से स्वयं को प्रतिभासित करेगी तथा अपनी विचार सरणियों में भारतीय मूल्यों को सांस्कृतिक विस्तार प्रदान करेगी, ऐसी कामना है।

यह पत्रिका विद्वानों, भारतीय संस्कृति के सुधी चिंतकों, कला के मर्मज्ञों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयासरत रहेगी। पत्रिका के प्रत्येक पक्ष को उत्कृष्ट बनाने हेतु हमारी संपादकीय समिति निरंतर प्रयत्न कर रही है। पत्रिका को बेहतर बनाने के लिए आपके सुझावों, आवश्यक परामर्शों का सदैव स्वागत किया जाएगा।

हमारे प्रयासों से प्रारंभ हुई 'प्राग्ज्योतिका' आप सभी की अपनी पत्रिका बने - ऐसी कामना है।

'आकल्पं रविमेव भास्वनकरी प्राग्ज्योतिका'
(यह प्राग्ज्योतिका कल्पपर्यंत सूर्य के समान प्रकाशित होती रहे)।

प्रो. चंदन कुमार
आचार्य, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-110007

पूर्वोत्तर की कविता में देश-राग

प्रो. हरीशकुमार शर्मा

भारतीय साहित्य के भावनात्मक अंतःसंबंध की यदि हम बात करें तो इसके कई आयाम हैं और इसमें काफी गहराई है। भारत की जो भावनात्मक एकता हमें निरंतर दिखाई देती है और जिसका आधार सांस्कृतिक एकता है, उसके निर्माण का बहुत बड़ा श्रेय भारतीय साहित्य को है। भारत-भूमि की विशेषता, भारतीय जन की प्रकृति, भारतीय धर्म-साधना की शक्ति और भारतीय संस्कृति की व्यापकता से भरी उदार दृष्टि में ही ऐसा कुछ है कि तमाम तरह के विध्वंशकारी आक्रमणों और हमको मिटाने के लिए हुए अनंत प्रयत्नों के बावजूद हजारों वर्षों में हम न मिटे, न टूटे, न कटे, न बंटे। भावनात्मक संबंधों की वह एकात्म-धारा आज भी वैसी ही अक्षुणय और अप्रतिहत गति से हमारे बीच में प्रवाहमान है। तोड़ने का प्रयास करने वालों की कमी आज भी नहीं है, पर जोड़ने वाले भी देश के हर कोने में बैठे अपना काम करने में लगे हैं। यह पुनीत कार्य हर काल में, हर क्षेत्र से और हर भाषा में होता रहा है तथा आज भी हो रहा है, भले ही हमारी दृष्टि हरेक तक न पहुँचे। देश भर की विभिन्न भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य को यदि हम देख पाएँ तो ऐसे बहुत से बिंदु निकलकर सामने आएंगे जो हमारे पारस्परिक भावनात्मक अंतःसंबंधों को परिपुष्ट करते नजर आएँ, पर यहाँ उसके एक सबसे महत्वपूर्ण पक्ष देशानुराग या राष्ट्रीयता की भावना तक ही हम सीमित रहेंगे और पूर्वोत्तर भारत में लिखे जा रहे काव्य में उस पर दृष्टिपात करेंगे।

'जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है, वह नर नहीं है पशु निरा है और मृतक समान है', 'जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं। वह हृदय नहीं है पत्थर है जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा', 'तेरा वैभव अमर रहे मां, हम रहें न रहें' जैसी कितनी ही हिंदी की अत्यधिक प्रचलित काव्य-पंक्तियों से हम परिचित हैं। देश की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी ऐसे बहुत से भाव भरे हुए हमें मिल जाते हैं, परंतु पूर्वोत्तर के साहित्य से हमारा उतना परिचय नहीं है। साहित्य क्या, पूर्वोत्तर भारत की अन्य बातों के बारे में भी हम कितना जानते हैं। जबकि यथार्थ यह है कि भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र न तो भारत की मुख्य सांस्कृतिक धारा से अलग है और न चिंताधारा से। जो चिंताएं समूचे देश की रही हैं, वही चिंताएं यहाँ भी व्यक्त होती रही हैं और साहित्य ने इस तरह की जन-भावनाओं को वाणी देने का काम बखूबी किया है। कहना होगा कि अपनी स्थिति पर विचार करने के साथ ही देश के प्रति अनुराग-भाव और उसकी चिंताओं पर चिंतित होना, समस्याओं पर चिंतन-मनन करना- इन भावों की कोई कमी पूर्वोत्तर के साहित्य में नहीं रही है।

संस्कृत साहित्य की बात छोड़कर यदि हम आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य की ही बात करें तो भी पूर्वोत्तर क्षेत्र में भक्तिकाल से ही देश की परिस्थितियों पर चिंता और चिंतन देखने को मिलता है और आधुनिक दौर में भी यह क्रम बराबर जारी है। मध्यकाल में असमिया समाज और संस्कृति की दिशा बदलकर रख देने वाले श्रीमंत शंकरदेव ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने भारत के बहुत बड़े भू-भाग का भ्रमण करके देश की एकात्मता को जाना-समझा और तदानुकूल भाव लोगों के मन में भरे। उनके सुयोग्य शिष्य माधवदेव ने उनके इस कार्य को आगे बढ़ाया। उन्होंने उद्घोष किया- 'धन्य धन्य कलिकाल, धन्य नर तनु भाल, धन्य धन्य भारत बरिष।'[1] श्री चित्र महंत ने लिखा है- ''असम के दो हजार वर्ष पुराने इतिहास में शंकरदेव ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने देश के इस पूर्वांचल को एक राष्ट्र, एक वाणी तथा एक संस्कृति से सम्पन्न किया। शंकरदेव से पहले अन्य किसी भारतीय ने एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति से भारत जैसे राष्ट्र को बांधने की चेष्टा नहीं की। राजनीतिक, सामाजिक तथा भौगोलिक दृष्टि से भी यह भू-भाग शेष भारत से सर्वदा अछूता रहा है। किंतु महान कवि शंकरदेव ने इस महान भारत में जन्म लेने के कारण हमेशा अपने को धन्य माना है।''[2] आधुनिक काल में कवि हीरेन भट्टाचार्य लिखते हैं- ''मेरे प्राण से भी/ मेरे गान से भी/ प्यारा मेरा देश।''[3]

मातृभूमि से प्रेम राष्ट्र-प्रेम की पहली सीढ़ी है। जिस धरती पर जन्म लिया है, उसके प्रति अनुराग-भाव होना स्वाभाविक है। किसी भी देश या जाति में जन्म लेना भले अपने हाथ में न हो, पर जन्म लेने के लिए किसी-न-किसी देश-जाति का होना परमावश्यक है। फिर जिस देश-जाति में जन्म लिया हो, जहाँ के रजकणों से शरीर पुष्ट हुआ हो, जहाँ के वातावरण में रच-बस कर मनुष्य का विकास हुआ हो, उसके प्रति भला किसका मन कृतज्ञ-भाव से नहीं भर उठेगा। कविवर रामनरेश त्रिपाठी की यह पंक्तियां इसी संदर्भ में बहुषः उद्धृत की जाती हैं-

''विषुवत रेखा का वासी, जो जीता है नित हांफ-हांफ कर।
वह भी अपनी मातृभूमि पर, कर देता है प्राण निछावर।''

और उस पर भी वह देश यदि भारत जैसा हो जिसके प्रति सदैव से एक लालायित भाव विदेशियों के मन में रहा हो और जिसके बारे में मान्यता रही हो कि यहाँ देवता तक जन्म लेने के लिए आतुर रहते हैं तथा इसी सोच के वशीभूत होकर यहाँ का कवि गाता रहा हो- ''गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवंतु भूया पुरुषः सुरत्वात।''

वैदिक काल से ही भारत के कवि भारत भूमि का भावपूर्ण स्तवन करते रहे हैं और यह परंपरा वर्तमान तक

चली आयी है। 'माता भूमि पुत्रोदृहम पृथिव्यां' तथा 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' से लेकर आधुनिक काल तक के बहुत से कवियों ने इस तरह के भाव अपनी कविता में व्यक्त किए हैं। उड़िया कवि राधानाथ राय कहते हैं- ''भारत भूमि हमारी जननी/नहीं पुण्य भूमि इससे बढ़कर''[4] और तेलुगु कवि विश्वनाथ सत्यनारायण लिखते हैं-''कहीं भी चला जा/ कहीं भी कदम रख/ किसी भी आसन पर चढ़/ कोई भी सम्मुख आये/ सराह अपनी मातृभूमि भारती को/ अपनी जाति के गौरव की रक्षा कर।''[5] कन्नड़ कवि दत्तात्रेय रामचंद्र बेंद्रे अपनी कविता में भाव व्यक्त करते हैं- ''एक मां के बच्चे हैं हम/ एक ही मायके की संताने हैं हम/ रंग भिन्न हमारे तो क्या/ हम आए हैं एक होकर/ भूमि भिन्न हमारी तो क्या/ हम आए हैं एक हृदय लेकर।''[6] रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपनी विश्व प्रसिद्ध रचना 'गीतांजलि' में लिखा है- विशाल विश्व में भारत के महामानव तट पर जननी जागी है।

''आओ हे आर्यो, हे अनार्यो, अंग्रेजों, ईसाइयो आओ!
हे ब्राह्मण आ! मन शुद्ध कर और सबका हाथ पकड़।
हे हरिजन आ ! और अपने समस्त अपमान भार को
हल्का कर लें।''[7]

विभिन्न भाषाओं एवं जीवन-शैलियों का प्रयोग करते हुए भी हमारे बीच ऐसा कुछ साझा हमेशा रहा है जो हमारे बारे में प्रचलित विविधता में एकता की धारणा को परिपुष्ट करता रहा है। तमिल कवि सुब्रह्मण्य भारती अपनी 'भारतमाता' कविता में लिखते हैं- ''भारतमाता के तीस करोड़ मुख हैं पर आत्मा एक! माता अनेक भाषा बोलती है पर उनकी आत्मा एक है।''[8] राजसत्ता भले कभी सक्षम हाथों में जाकर विराट रूप धारण करती रही और कभी अयोग्य उत्तराधिकारियों की अक्षमता से सिमटती रही, पर देश के कवि, मनीषी, चिंतक, रचनाकार की दृष्टि से भारत का वह समग्र रूप कभी ओझल नहीं हुआ और वह सदैव अपने विचारों व कर्मों से देश को एक सूत्र में बांधे रखने का प्रयत्न करता रहा। इस कार्य में उसके लिए न तो भाषाओं की भिन्नता आड़े आई, न जीवन-शैलियों की विविधता। बाह्यतः दिखने वाले नाना प्रकार के भेदों के बीच से भी अंतरतः एक अभेदत्व का भाव सदैव हमें चैतन्य किए रहा। यही कारण था कि हम अलग-अलग राजसत्ताओं के अधीन रहते हुए भी सांस्कृतिक रूप से एक रहे, एकजुट रहे, क्योंकि हम सांस्कृतिक रूप से सदा एक भारत थे, इसलिए राजनीतिक रूप से भी जब भी समुचित अवसर आया- एक राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित होने में हमें कोई विशेष समस्या नहीं हुई। आज हमारी समस्या एक अलग और उलट रूप में हमारे सामने है। आज जबकि भारत राजनीतिक रूप से भी एक सशक्त राष्ट्र के रूप में विश्व के समक्ष पूरी दृढ़ता के साथ खड़ा है और राजनेता से लेकर जनसाधारण तक इस राष्ट्रीयता की भावना को अनुभव करते हैं, तब कुछ मुट्ठी भर लोगों का समूह अपने लेखन और विचारों के द्वारा लोगों को यह समझाने में लगा रहा कि भारत एक राष्ट्र नहीं, अपितु अनेक राष्ट्रीयताओं का समुच्चय है, संघ है। यह वर्ग, जो कि है तो बहुत थोड़ा सा, पर सत्ता का निरंतर प्रश्रय मिलते रहने के कारण इसकी आवाज बहुत बुलंद रही। इसकी दृष्टि में भारत का प्रत्येक प्रांत दरअसल एक राष्ट्र है जो कि एक संघ के रूप में आपस में जुड़े हैं।

तथापि यह देश क्या है, इसका स्वरूप क्या है, इसकी परिधि के अंतर्गत क्या-क्या आता है, इस पर बहुत सोच-विचार किए बिना सामान्यजन के मन में उसकी एक भावच्छवि सहज ही साकार उठती है और वह उसके आगे नतमस्तक होता है। उसके लिए हर तरह के समर्पण के लिए संकल्पबद्ध होता है। देश के प्रति प्यार तो सभी के मन में भरा होता है पर कवि उस प्यार को, प्यार के एहसास को जगाता है, जिंदा करता है, हमारे भीतर उस बोध को जागृत करता है। 'हमारो उत्तम भारत देश', 'धन्य भूमि भारत सब रत्न की उपजावनि' 'जिएं तो जिएं इसी के लिए, रहे अभिमान रहे यह हर्ष। निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष', 'तेरा वैभव अमर रहे मां, हम रहें न रहें', 'भारति! जय विजय करे, कनक शस्य कमल धरे''[9] जैसी कितनी ही पंक्तियां हिंदी के रचनाकारों की हैं जो कवि के भीतर के देश-राग का प्रस्फुटन ही नहीं करतीं, पढ़ने-सुनने वाले के मन में भी वही अनुराग जगाती हैं। अन्य भारतीय भाषाओं का जो साहित्य हमें हिंदी के माध्यम से सुलभ होता है उससे हम जान पाते हैं कि हर क्षेत्र और भाषा के कवि ने देश के कोने-कोने में देश-प्रेम का भाव भरने में अपनी ओर से कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। पूर्वोत्तर भारत के बारे में भले हमारी जानकारी अत्यंत सीमित होने के कारण हम जान नहीं पाते, पर वास्तविकता तो यह है कि पूर्वोत्तर क्षेत्र के रचनाकार भी इस दृष्टि से किसी से पीछे नहीं रहे। अपनी क्षेत्रीय समस्याओं से जूझते हुए भी कवि ने भारत और उसकी समस्याओं से अपना ध्यान विरत नहीं रखा है। हिंदी और असमिया दोनों भाषाओं में काव्य-सृजन करने वाले रजनीकांत चक्रवर्ती ने अपनी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'राष्ट्रनाव' के प्रारंभ में लिखा था-

''जय जननी भारत माता
तू ही मेरी शक्ति विधाता।
राष्ट्र की सेवा भाषा से करें
कहीं न पीछे हम न अड़ें
यही होगा जीवन का व्रत
राष्ट्र नाव से करो जाग्रत।''[10]

मणिपुरी कवि लमावम कमल अपनी भावनाएं कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "जान गया मां तुम ही हो निर्धन पुराण।
भारत की इस बाटिका में देखो मां तुम्हारे अज्ञानी पुत्र
न चढ़ा जल चरणों पर तुम्हारे
लगे हैं मरुभूमि में तलैया खोदने में।"[11]

हिंदी भाषा में लिखने वाले मिजोरम के कवि सी. कामलोवा अपने एक गीत में कहते हैं- ''हम एक थे हम एक हैं-/ जग को आज सुनाना है/ अब कोई ताकत कोई भुलावा, हमें न भटका पायेगा।/ ...देश की एकता-अखण्डता कभी न खण्डित होने देंगे।/ विश्व-प्रेम का नया सन्देश सबको आज सुनायेंगे...''[12] मिजोरम के ही कवि लुईसहाउन्हार लिखते हैं- ''भारत देश है अपना महान/ हम सब हैं इसकी सन्तान/ विभिन्न प्रदेश सभी एक हैं/ मिजोरम रखता सबका मान।''[13]

मिजोरम के ही एक अन्य कवि एच. वानलललोमा गाते

हैं-''एक-दूसरे की निन्दा न कर/ जाति-पांति में भेद न कर/ मित्रता का हाथ बढ़ाकर/ मिल सजायें भारत सुन्दर/ अपने वतन को उन्नति के पथ पर/ मित्रता का सुयश फैलाकर/ जो देखे ललचाये, ऐसा/ देश बनायें सब मिलकर।''[14]

मणिपुरी कवयित्री हरिप्यारी देवी थोकचोम लिखती हैं- ''गर्व है हमें इस देश पर
और इसकी एकीकरण व्यवस्था पर...
उत्तर से लेकर दक्षिण तक
और पूरब से लेकर पश्चिम तक
हम सब एक हैं
आओ हम अनेक से एक
बनें और बनें रहें युगों तक एक।''[15]

साहित्य तो साहित्य, लोक-साहित्य तक में राष्ट्रीयता की भावना की यथा-अवसर मुखर अभिव्यक्ति हुई है। साहित्यकारों ने देश की समस्याओं को बखूबी समझकर उन पर अपनी प्रतिक्रिया दी है। देश एक है तो देश की उपलब्धियां भी सभी की हैं और समस्याएं भी साझी हैं। देश का शत्रु हर देशवासी का शत्रु है, फिर चाहे वह देशवासी किसी भी कोने का निवासी हो। पाकिस्तान और चीन जैसे भारत के पड़ोसियों की नीयत देश के प्रति अच्छी नहीं। इसको हर देशवासी महसूस करता है। पूर्वोत्तर का लोक-गीतकार भी इससे अनजान नहीं। असम-अरुणाचल की सीमा पर बसने वाली एक जनजाति है- मिशिंङ्। इस जनजाति में प्रचलित एक लोकगीत में पाकिस्तान को पापी, चीन को अपराधी कहा गया है और कहा गया है कि यह दोनों शत्रु कश्मीर को हड़पना चाहते हैं-

''पापकानो पाकिस्तान सिड़ाव्लामान् सिनाड़ो
कास्मिरवो कांकान्ना, रद् वम् कुपोमोदुनड़।''[16]

यही नहीं, एक लोकगीत में लोक-गायक बड़े रोचक तरीके से प्रेमी-प्रेमिका के संबंधों की तुलना प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के देशहित में किए जाने वाले कामों से करता है- ''हे इन्दिरा! आप इस सुन्दर भारत में सुशासन करके देश को समृद्धि की ओर ले जाइए और हे प्रिय! तुम इस सुन्दर जवानी से भरपूर जीवन को सुरक्षित रखो। भारत में इन्दिरा गांधी जैसे समर्थ नेता की आवश्यकता है और जीवनसाथी के लिये भी प्रेमिका की जरूरत है। दिल्ली बहुत दूर है, जहां इन्दिरा गांधी रहकर भारतवासियों के दुख को भली-भांति नहीं समझ सकतीं और मेरा प्रेमी भी मुझसे दूर रहकर मेरी बातों को भली-भांति नहीं समझता। हे इन्दिरा! भारत में गड़बड़ी को आपने कैसे समझा और हे प्रिय! तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ कि नवयुवती का चरित्र गड़बड़ है? भारत की समस्याओं का चिंतन-मनन करने से इन्दिरा गांधी बीमार पड़ जाती हैं और मैं अपने प्रेमी की समस्याओं का चिंतन-मनन करने से बीमार हो जाती हूँ।''[17]

अरुणाचल प्रदेश की ही एक जनजाति ताड़सा के एक लोकगीत में गीतकार अरुणाचल के साथ भारत का नाम लेना नहीं भूलता-

''भारत मोड़ना अरुणाचल हारा हितंड़ खोड़ती,
तड़सा नोकते आदी नीशी आपातानी खामती।
ऐथी मोड़ना तंड़सा हारा हामुड़ आशे वे तोड़ीबो
तिराप यूड़खो ताड़सा हारा हामुड़ आशे तोड़ी
मुकलोम लोड़चाड़ जुगली पांड़सा साफो सावा तोड़ी
भारत मोड़ना अरुणाचल अरुणाचल हारा हितेड़
खोड़ती
तड़सा नोकते आदी नीषी आपातानी खम्ती।''[18]

(भारत के विशाल भू-भाग में अरुणाचल प्रदेश का जन्म हुआ जहाँ तड़सा, नोक्ते, आदी, न्यीशी, आपातानी, खामती जैसी जनजातियां विद्यमान हैं। उसी के अंतर्गत तड़सा जनजाति का एक विशाल क्षेत्र है जिनका तिरप नदी के ऊपरी क्षेत्रों में निवास-स्थान है। तड़सा के अंतर्गत आने वाली हम सभी जनजातियां मुकलोम, लोड़चाड़, जुगली, पाड़सा आपस में भाईचारे के साथ रहते हैं। भारत के विशाल भू-भाग में ...)

भारत में धरती को माँ माना गया है। इसी कारण से यहाँ भारत-भूमि को भारतमाता की संज्ञा से अभिहित कर उसकी माँ के रूप में वंदना की गयी है। अरुणाचल की गालो जनजाति के एक गीत में भी धरती को माँ कहा गया है- ''माँ रूपी इस धरती में खेती करने चलो, अपने साथ अपने घर में पड़े हुए टोकरी, बड़ी सी दाव और कुल्हाड़ी को साथ लेते आओ।''

देश लोगों से बनता है और किसी देश के लोग ही उसको आगे बढ़ाते हैं, उसको ऊँचा उठाते हैं। परंतु इसके लिए उनका सक्षम और चरित्रवान होना आवश्यक है, स्त्री-पुरुष सभी को कंधे-से-कंधा मिलाकर चलना आवश्यक है। परिश्रम और ज्ञान दोनों की आवश्यकता है। आधी आबादी के कमजोर होने से देश मजबूत नहीं हो सकता और न ही किसी एक जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्रादि के ही लोगों के आगे बढ़ जाने से देश आगे बढ़ता है। सभी नागरिकों से मिलकर देश बनता है और सभी के सहयोग से और सभी क्षेत्रों के सम्यक विकास से देश मजबूती और खुशहाली की राह पर जाता है। इस विषय पर भी लोक कवि का बराबर ध्यान है। अरुणाचल की मिशमी जनजाति के एक गीत में कहा गया है- ''युवाओं को हर पल तैयार रहना चाहिए। हर वक्त हाथों में दाव लेकर चलना चाहिए। दाव और कलम दोनों धारण करना चाहिए। इसी से अरुणाचल की प्रगति हो सकती है। अरुणाचल की युवतियों को खावात नामक हथियार लेकर चलना चाहिए। इसी से खोद-खोदकर फसल उगायी जायेगी। नारियों को भी ज्ञानार्जन करना चाहिए, तब जन्मभूमि की प्रगति हो सकेगी।''[19]

निश्चय ही श्रेष्ठ नागरिक श्रेष्ठ राष्ट्र के निर्माता होते हैं। उनका स्वस्थ, सबल और दुगुर्णों से रहित होना उनके लिए, उनके समाज के लिए और उनके देश तथा प्रदेश के लिए हितकर होता है। वे जो भी अच्छा करते हैं, वह उनके साथ-साथ उनके देश और समाज के लिए भी अच्छा होता है और उनके बुरे कार्य का परिणाम देश-प्रदेश के लिए भी अनिष्टकारी होता है। व्यक्ति की उपलब्धियां राष्ट्र की उपलब्धियों में जुड़ती हैं और राष्ट्र की उपलब्धियों का लाभ व्यक्ति को होता है। इसलिए अरुणाचल प्रदेश की ही एक जनजाति नोक्ते में बच्चे के अन्नप्राशन के समय ऐसी

भावनाएं व्यक्त की जाती हैं- ''तुम्हारा जन्म एक महान उद्देश्य के लिये हुआ है। तुम बड़े होकर अधिक-से-अधिक कृषि-कार्य करो और अधिक अनाज उपजाओ। इससे तुम इतने अमीर हो जाओगे कि दूसरे गाँव में जाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। तुम अफीम नहीं खाना यानी नशे से परहेज करना।''[20] मेघालय के कवि हावर्ड डी. मोमिन भी वहाँ के गारो जनों को उद्बोधित करते हुए कहते हैं- ''जागो गारो नर नारियो/आओ बाहर के प्रकाश में/ऊंचा उठाकर सिर अपना, लक्ष्य रखकर ऊपर/भयरहित दृष्टि के साथ/ज्ञान की मशाल थामे, युवक-युवतियों/जलाओ एक-दूसरे की मशाल।''[21]

संदर्भ

1. चित्र महन्त, महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव : कृति और कृतित्व, असम हिंदी प्रकाशन, गुवाहाटी, पृ. 6
2. वही
3. समन्वय पूर्वोत्तर, अंक-18, जन.-मार्च, 2013, पृ. 83
4. डॉ. अवधेश नारायण मिश्र एवं डॉ. नन्द किशोर पाण्डेय (संपादक), आधुनिक भारतीय कविता, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ.10
5. वही, पृ. 8
6. वही, पृ. 226
7. डॉ. मंजु मुकुल एवं डॉ. हर्षवाला शर्मा (संपा.) भारतीय साहित्य : भाषा, मीडिया और संस्कृति, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 186
8. वही, पृ. 205
9. विश्वनाथ त्रिपाठी, लोकवादी तुलसीदास, पृ. 40
10. वही, पृ. 40-41
11. परेशचन्द्र देव शर्मा, शोध धारा, पूर्वोत्तर भारत विशेषांक, दिसंबर 2011, पूर्णांक 22, पृ. 141
12. प्रो. देवराज, वही, पृ. 136
13. समन्वय पूर्वोत्तर 16-17, जुलाई-दिसंबर, 2012, पृ. 32
14. वही 12, जुलाई-सित. 2011, पृ. 21
15. वही 7, अप्रैल-जून, 2010, पृ. 30
16. वही 18, जनवरी-मार्च, 2013, पृ. 32
17. मिशिङ् जनजाति का लोक साहित्य, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, सन् 1984, पृ. 97
18. देवकान्त पांगिड़, खड़ी बोली और मिशिङ् लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन, अप्रकाशित शोध-प्रबंध, 2002, अरुणाचल विश्वविद्यालय, ईटानगर, पृ. 33
19. भूपेन्द्र सिंह, अरुण प्रभा, अंक दो, संयुक्तांक 2002-03, अरुणाचल विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की शोध पत्रिका, पृ. 154-55
20. अरुण कुमार पाण्डेय, समकालीन भारतीय साहित्य, पूर्वोत्तर भारत विशेषांक, अंक 164, नवबंर-दिसंबर 2012, पृ. 141
21. श्रुति, वही, अंक 141, जन.-फर. 2009 पृ. 155.

संपर्क :- आचार्य, हिंदी विभाग,
सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु
सिद्धार्थनगर, उत्तर प्रदेश

भारतीय सांस्कृतिक बहुलता और पूर्वोत्तर की भाषाएं

प्रो. हितेंद्र कुमार मिश्र

भारत एक बहुलतावादी देश है, जो उसके विविध संदर्भों में पाया जाता है। भारत में यह बहुलता जितने अधिक क्षेत्रों एवं परिमाण में पायी जाती है, विश्व के शायद ही किसी देश में पायी जाती होगी। जाति, धर्म, भाषा, भूगोल, पर्यावरण, आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, पर्व-त्योहार, लोक-विश्वास, कद-काठी, नाक-नक्ष, रंग-रूप प्रत्येक क्षेत्र में यह बहुलता सहज ही देखी जा सकती है। यह भारत ही है, जहाँ एक साथ इतनी ऋतुएं पायी जाती हैं। एक ही दिन में इसका एक कोना गर्म तो दूसरा ठंडा होता है। भारत की यह बहुलता ही उसका सौंदर्य है और उसकी महानता का कारक भी। हमारा भारत वह उद्यान है जहाँ विश्व की सर्वाधिक प्रजातियों के पुष्प पल्लवित और पुष्पित होते हैं।

भारत की इस बहुलता के केंद्र में यहाँ की संस्कृति प्रमुख रूप से जिम्मेदार रही है, जो विश्व के दूसरे देशों से अलग है। सदियों से हमारे जीवन का विकास सहजीविता और सहधर्मिता के आधार पर हुआ है। सभ्यता के विकासक्रम में सदियों से हमारी इसी विशेषता ने हमें समृद्ध किया है। आज के समय में जनसंख्या को आधार बनाकर अगर बात की जाय तो स्पष्ट है कि हम विश्व के द्वितीय स्थानिक देश हैं। सबसे बड़ी जनसंख्या का देश होने के बावजूद चीन में भारत जैसी बहुलता नहीं है। इसका मूल कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति रही है। भारत में सदियों से अनेक बाहरी जातियों, समूहों का आगमन होता रहा है और अलग-अलग समय और कारणों से भारतभूमि पर आई हुई ये जातियाँ या समूह थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यहाँ के होकर रह गए। वर्तमान में ये सभी भारत के मूल नागरिक हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति पर अगर ध्यान दिया जाय तो यह देश लगभग तीन दिशाओं से समुद्र से घिरा हुआ है और उत्तर का अधिकांश पर्वत से आच्छादित है। सदियों पूर्व आवागमन का सुगम मार्ग स्थलमार्ग ही रहा है। इस कारण बाहर के देशों से भारत में आगमन का मार्ग अधिकांशतः पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत अथवा पूर्वोत्तर सीमा प्रांत रहा है। इनमें भी पश्चिमोत्तर सीमा से आने वाले जनसमूहों का विस्तार मैदानी क्षेत्रों में सहजता एवं सरलता पूर्वक हुआ लेकिन पूर्वोत्तर सीमा से आने वाले जनसमूहों के साथ ऐसा नहीं हुआ। इतिहासकारों की मानें तो भारत के आज के बहुलतावादी स्वरूप के निर्माण में अलग-अलग समय में लगभग अनेक जातीय समूहों का आगमन केवल भारत में अलग-अलग समयों में हुआ है। प्राचीनकाल से भारत में आने वाले इन प्रवासियों का समय लगभग 6000 ईसा पूर्व से 1000 ई. तक रहा है। इन जातीय समूहों में सबसे अंतिम आगमन मुस्लिम समुदाय का रहा है। भारत में इस्लाम का आगमन सातवीं शताब्दी ईस्वी के आसपास बताया जाता है।

भारत में इन जातीय समूहों के आगमन के व्यापक कारणों में यहाँ की उपजाऊ जमीन और जलवायु के साथ-साथ यहाँ की संस्कृति में संस्कारतः सहजीविता और सहधर्मिता की भावना रही है। भारतीय सांस्कृतिक स्वरूप की यह मौलिकता है कि यहाँ के लोगों ने विजातीयता के कारण किसी जाति या समूह को बाहर जाने के लिए विवश नहीं किया। यहाँ तक कि सबसे अंतिम समय में अंग्रेजी सत्ता का विस्थापन हुआ किंतु उनका इसाई समुदाय आज भी हमारे साथ समान अधिकार और सम्मान से भारतवासी है। हम सभी धर्मों एवं समुदायों के प्रति समान सम्मान एवं आदर करने के अभ्यस्त हैं। जाति, धर्म, एवं भाषा के स्तर पर पाए जाने वाले वैविध्य के बावजूद भारत में सबके लिए समान सम्मान का भाव यहाँ के संस्कारों में व्याप्त है। भारतीय संस्कृति की यह संस्कारगत विशेषता उसके संविधान में भी सुरक्षित है। हमारे देश का संविधान देश में रहने वाले इन वैविध्यपूर्ण समूहों के जाति, धर्म, भाषा को समान रूप से सम्मान प्रदान करता है। हमारे संविधान का अनुच्छेद 14-17 समानता, अनुच्छेद 19 अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, अनुच्छेद 21 स्वतंत्रता, अनुच्छेद 25 धर्म की स्वतंत्रता के लिए आश्वस्त करता है। संविधान के पूर्व एवं पश्चात भारत के राजनीतिक स्वरूप में विविध धर्मों एवं समुदायों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार इसका वैशिष्ट्य है।

भारतीय बहुलता के परिप्रेक्ष्य में भारत के भाषाई स्वरूप को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। भाषा के स्तर पर ऐसी विविधता के मूल में भी उपरोक्त वर्णित कारण ही सर्वप्रमुख हैं। वस्तुतः भाषा वह माध्यम है जिससे एक समाज विशेष के लोग आपस में विचार-व्यवहार करते हैं। एक समाज विशेष की इसकी सीमा ही इसमें वैविध्य की जननी है। समाज एक प्रकार के जीवन व्यवहार के लोगों का समूह होता है और जब भारत में सदियों से अपने-अपने वैशिष्ट्य के साथ मानव समूहों का आगमन हुआ तो यह वैविध्य समूह के साथ-साथ भाषिक स्तर पर भी होना स्वाभविक ही है। भाषा वैज्ञानिकों ने व्यवहार के स्वरूप के आधार पर भाषा को राष्ट्रभाषा, राजभाषा, संपर्क भाषा, मातृभाषा जैसे भेदों में विभाजित किया है और व्यवहार की व्यापकता

के आधार पर भाषा, विभाषा और बोली जैसे उपभेदों को निश्चित किया है। भाषा, विभाषा और बोली के विभाजन के बीच बड़ी सूक्ष्म विभाजक रेखा होती है। कभी-कभी बोलियों ने इन सीमाओं के प्रतिबंधित दायरे का अतिक्रमण करते हुए भाषा के रूप में अपने को स्थिर किया है तो कभी-कभी भाषाओं ने अपने को समेटते हुए बोलियों का स्वरूप धारण किया है। यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं है कि व्यवहार के दायरे के अलावा भाषा, विभाषा और बोली में कोई अन्य स्थूल विभाजक रेखा नहीं होती और संभवतः यही कारण है कि सर्वेक्षण कार्य करने वाले भाषाविदों को इनमें अंतर कर पाने में सर्वथा कठिनाई हुई है। भारत के महत्वपूर्ण भाषा सर्वेक्षक जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का मानना था कि "सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने में कठिनाई पड़ी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतंत्र भाषा है, अथवा अन्य किसी भाषा की बोली है। इस संबंध में इस प्रकार का निर्णय देना जिसे सब लोग स्वीकार कर लेंगे, कठिन है। भाषा और बोली में प्रायः वही संबंध है जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है। यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालबर्न एक पहाड़ी, किंतु इन दोनों के बीच विभाजक रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है। ...सच तो यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओं में भेदीकरण केवल पारस्परिक वार्ता संबंध पर निर्भर नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस संबंध में विचार करने के लिए अन्य महत्वपूर्ण तथ्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है।'' राष्ट्र के स्तर पर भाषा, विभाषा और बोली सभी का समान महत्व और सम्मान है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं और बोलियों में भेद निश्चित न किए जा सकने के कारण उनकी ठीक-ठीक संख्या का अनुमान कर पाना एक कठिन काम है। भाषा और बोली के बीच अंतर का यदि ध्यान न दिया जाय तो भारत में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या सत्रह सौ के आसपास अनुमानित की जाती है। भारत में व्यवहृत इन भाषाओं की व्युत्पत्ति अलग-अलग समय में अनेक भाषा समूहों से हुई है। विश्व में बोली जाने वाली भाषाओं के पारिवारिक विभाजन के आधार पर यह देखा जाता है कि भारत में विश्व की कुल पाँच प्रमुख भाषा परिवारों यथा- भारतीय आर्य, द्रविड़, आग्नेय, तिब्बती-बर्मन और अंडमानी की भाषाएं बोली जाती हैं।

इन भाषा परिवारों में भारतीय आर्यभाषा परिवार बोलने वालों की संख्या के आधार पर सबसे बड़ा भाषा परिवार है। 'भारत में इस परिवार की लगभग 21 प्रमुख भाषाएं- असमी, उड़िया, उर्दू, कश्मीरी, कोंकणी, खानदेशी, गुजराती, डोंगरी, नेपाली, पंजाबी, बंगाली, विष्णुपुरिया, भीली, मराठी, मैथिली, लहंदा, संस्कृत, सिंधी, शिना, हलाबी और हिंदी बोली जाती हैं, जिनके बोलने वालों की संख्या का पूरी आबादी में 76.86 प्रतिशत है। इन भाषाओं में पंद्रह भाषाएं संविधान की आठवीं अनुसूची में भी सम्मिलित हैं।' इस समूह की कुछ भाषाएँ पूर्वोत्तर भारत में भी बोली जाती हैं। जिसमें असमी, बंगाली, विष्णुपुरिया, हिंदी और नेपाली उल्लेखनीय हैं।

भारत में बोले जाने वाले भाषा परिवारों में दूसरा प्रमुख भाषा परिवार द्रविड़ है। इस भाषा परिवार के बोलने वालों की संख्या भारत की आबादी में 20.82 प्रतिशत है। इस परिवार से संबधित भारत में कुल सत्रह भाषाएं बोली जाती हैं, जिसमें कन्नड़, मलयालम, तमिल और तेलुगु संविधान की आठवीं अनुसूची में भी सम्मिलित हैं। इस समूह की कोई भी भाषा पूर्वोत्तर भारत में नहीं बोली जाती। आग्नेय परिवार भारत में बोलने वालों की संख्या के आधार पर तीसरे स्थान पर है। इसके भारत में बोलने वालों की संख्या 1.11 प्रतिशत है।' इस परिवार की भाषा के मुख्यतः दो समूह भारत में प्रचलित हैं, वे ख्मेर निकोबारी और मुण्डा हैं। ख्मेर निकोबारी में मॉन-ख्मेर और निकोबारी दो समूह हैं। मॉन-ख्मेर समूह की एकमात्र भाषा- खासी पूर्वोत्तर भारत के मेघालय की प्रमुख भाषा है तो निकोबार अंडमान में प्रचलित है। मुंडा समूह की बारह भाषाएं भारत में प्रचलित हैं जिसमें संथाली को 2003 से संविधान के 92वें संशोधन के माध्यम से आठवीं अनुसूची में स्थान प्राप्त है। तिब्बती-बर्मन परिवार के भाषाओं के बोलने वालों की संख्या भारत में अत्यल्प है जो कुल आबादी का लगभग एक प्रतिशत है। बोलने वालों की संख्या इस समूह की भले ही कम हो किंतु विविधता की दृष्टि से यह बहुत ही संपन्न समूह है। इसकी भाषाओं की संख्या 66 के आसपास है। इस समूह की तीन मुख्य शाखाएँ - तिब्बती हिमालयन, उत्तरी असम और असमी बर्मन है। भारत में बोली जाने वाली तिब्बती बर्मन समूह की सभी भाषाएँ पूर्वोत्तर भारत में बोली जाती हैं। इस समूह की दो भाषाएँ मणिपुरी और बोडो संविधान की आठवीं अनुसूची में भी शामिल हैं। भारत में बोले जाने वाले भाषा परिवारों में अंडमानी परिवार की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। इस भाषा परिवार की भाषाओं के अनेक रूप अंडमान निकोबार द्वीप समूह में प्रचलित हैं। इसके अलावा भारत में थाई समूह की भी एक भाषा खाम्पती बोली जाती है जो अरुणाचल के एक विशिष्ट समूह द्वारा बोली जाती है। भारत की यह भाषाई बहुलता जनजातीय समूहों में भी पायी जाती है। इन जनजातीय समूहों में प्रायः अलग-अलग भाषाएँ बोली जाती हैं। 'भारत में जनजानतीय समूहों की संख्या 705 बताई जाती है।' प्रायः प्रत्येक जनजाति अपने रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज की विशिष्टता के साथ-साथ भाषाई वैशिष्ट्य को लिए हुए है। बोलने वालों की संख्या के आधार पर ये चाहे छोटी या बड़ी कह दी जायं, उन्हें जनगणना में सम्मिलित न किया जाय, किंतु महत्व की दृष्टि से सभी समान हैं।

भारत में निवास करने वाले जनजातीय समूहों में पूर्वोत्तर भारत में जनजातियों की बहुलता पायी जाती है और इसीलिए भाषा में भी इस बहुलता के दर्शन होते हैं। पूर्वोत्तर भारत में भारत के आठ राज्यों को सम्मिलित किया जाता है। ये राज्य- असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, नागालैंड, मणिपुर, त्रिपुरा और सिक्किम हैं। जिन्हें पारिवारिक रूप से सात बहनें और सिक्किम को भाई के रूप में गिना जाता है। लेकिन केवल इन राज्यों मात्र से पूर्वोत्तर नहीं बनता। सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक रूप से देखा जाय तो इसमें उत्तर बंगाल के दार्जिलिंग, सिलीगुड़ी और कूचबिहार को सम्मिलित किया जाना श्रेयश्कर है। इस प्रकार सीमांकित पूर्वोत्तर भारत में बोली जाने वाली

भाषाओं पर ध्यान दिया जाय तो यहाँ मूल रूप से मुख्यतः आग्नेय और तिब्बती बर्मन परिवार की भाषाएं बोली जाती हैं। इनमें भी मेघालय की खासी मात्र पूर्वोत्तर भारत में आग्नेय परिवार की भाषा है। अरुणाचल की खाम्पती थाई भाषा परिवार से संबंध रखती है। इसके अलावा अधिकांश भाषाएं तिब्बती बर्मन परिवार की भाषाएँ हैं। पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समूहों की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये भारतीयता के साथ-साथ अपनी मौलिकता के प्रति विशेष सजग दिखाई देते हैं। भारत के अन्य क्षेत्रों में निवास करने वाली जनजातियों पर भाषाई बहुलता के दबाव (सामाजिक और सांस्कृतिक) अधिक हैं, कारण यह है कि उन क्षेत्रों में जनसंख्या के आधार पर वे समूह अल्पसंख्यक हैं और रोजी-रोजगार के कारण दूसरी भाषा का दबाव उन पर अधिक है। किंतु पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के साथ ऐसा नहीं है यहाँ के राज्यों में निवास करने वाले इन जनजातीय समूहों की आबादी बहुसंख्यक है। इसलिए इन समूहों पर रोजी-रोजगार संबंधी वैसे दबाव नहीं हैं जैसे देश के अन्य क्षेत्रों में हैं। यहाँ बहुभाषिकता का कारण आपसी सम्पर्क और राष्ट्र के साथ सम्मानजनक संबंध स्थापन है। यहाँ भाषाई बहुभाषिकता का दबाव न होते हुए भी भारत की दूसरी भाषाओं के साथ इनके संपर्क आदर्श स्थिति में हैं। इसे और स्पष्ट करने के लिए पूर्वोत्तर में प्रचलित भाषाओं की राज्यवार स्थिति के आंकड़ों को देखा जा सकता है।

जनसंख्या की दृष्टि से असम पूर्वोत्तर भारत का सबसे बड़ा राज्य है। जनसंख्या के आधार पर असम भारत का पंद्रहवाँ राज्य है जो क्षेत्रफल की दृष्टि से स्काटलैंड के बराबर है। सन 2001 ई. की जनगणना के अनुसार यहाँ 48.8 प्रतिशत असमिया तो 27.5 प्रतिशत बंगला भाषी निवास करते हैं। शेष 5.88 प्रतिशत हिंदी, 4.8 प्रतिशत बोडो, 2.12 प्रतिशत नेपाली के साथ 11.8 प्रतिशत अन्य भाषा भाषियों का हिस्सा इस राज्य में निवास करता है। जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर भारत में त्रिपुरा दूसरे स्थान पर है तो भारतीय स्तर पर 22वाँ राज्य है। इस राज्य में त्रिपुरी बोलने वालों की संख्या 25.46 प्रतिशत है तो बंगला भाषियों का अनुपात 67.14 प्रतिशत है। यहाँ हिंदी भाषियों की संख्या 1.68 प्रतिशत तो कूकी भाषा-भाषियों की संख्या 1.2 प्रतिशत के बराबर है। जनसंख्या के आधार पर मेघालय पूर्वोत्तर के राज्यों में तीसरे स्थान पर और भारत का 23वाँ राज्य है। इस राज्य की मुख्य भाषा खासी, गारो और जयंतिया है जो यहाँ की पहाड़ियों और जनजातीय समूहों के भी नाम भी हैं। मेघालय में बोलने वालों की संख्या के आधार पर देखें तो खासी 33.82 प्रतिशत, गारो 31.6 प्रतिशत, पनार 10.69 प्रतिशत, बंगाली 6.44 प्रतिशत, नेपाली 1.85 प्रतिशत, वार 1.73 प्रतिशत, हिंदी 1.62 प्रतिशत, हाजोंग 1.4 प्रतिशत, असमी 1.34 प्रतिशत और अन्य 9.51 प्रतिशत हैं। इसी प्रकार जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का चौथा राज्य मणिपुर है जो इसी आधार पर भारत का 24वाँ राज्य है। इस राज्य में गैर जनजातीय भाषा का दबाव बहुत कम है। मैतेई यहाँ की प्रमुख भाषा है जिसके बोलने वालों की संख्या यहाँ की आबादी में 53 प्रतिशत है। इस राज्य में बंगला और हिंदी भाषियों का अनुपात 1.25 और 1.14 प्रतिशत है। नागालैंड जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का पाचवाँ और भारत का पच्चीसवाँ राज्य है। इस राज्य में भी गैर जनजातीय भाषाओं का दबाव अत्यल्प है। यहाँ कोनयाक, लोथा, अंगामी, आओ, चोकरी, चांग आदि भाषा-भाषियों का अनुपात गैर जनजातीय भाषा-भाषियों से अधिक है। बंगला भाषी 3.77 तो हिंदी भाषी 3.13 प्रतिशत हैं। अरुणाचल प्रदेश जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का छठवाँ तो भारत का सत्ताइसवाँ राज्य है। क्षेत्रफल के आधार पर यह राज्य पूर्वोत्तर का पहला तो भारत का पंद्रहवाँ राज्य है। भाषाई रूप से भी यह राज्य पूर्वोत्तर का अत्यंत उर्वर राज्य है। यहाँ पचास के आसपास प्रमुख जनजातियाँ और उनकी भाषाएं विद्यमान हैं। इस राज्य को भाषाई बहुलता में एशिया में प्रथम स्थान प्राप्त है। इस राज्य में निशी, आदी, मोनपा, वांगचू, तांगसा, मिशमी, मिसिंग, नोक्ते के साथ-साथ असमी, बंगला, नेपाली और हिंदी भाषियों की भी अच्छी संख्या विद्यमान है। जनसंख्या के आधार पर भारत का अठ्ठाइसवाँ और पूर्वोत्तर का सातवाँ राज्य मिजोरम भी जनजातीय समूहों और जनजातीय भाषाओं की दृष्टि से अल्पसंख्यक नहीं है। गैर जनजातीय भाषा-भाषियों की संख्या यहाँ अत्यल्प या नहीं के बराबर है। इस राज्य में मिजो भाषी समुदाय प्रांत का सत्तर प्रतिशत से अधिक है। शेष समुदायों द्वारा प्रमुख रूप से चकमा, मारा, ताई, कूकी, त्रिपुरी, हमार, पाइते आदि जनजातीय भाषाएं बोली जाती हैं। जनसंख्या के आधार पर सिक्किम भारत और पूर्वोत्तर का सबसे छोटा राज्य है। इस राज्य में भारतीय आर्य, आग्नेय, तिब्बती बर्मन, तीनों भाषा-परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं। यहाँ नेपाली 62.6 प्रतिशत, भूटिया 7.6 प्रतिशत, हिंदी 6.6 प्रतिशत, लेपचा 6.5 प्रतिशत, लिंबू 6.3 प्रतिशत, शेरपा 2.4 प्रतिशत, तमांग 1.8 प्रतिशत तथा 6.2 प्रतिशत अन्य भाषा-भाषी रहते हैं।

पूर्वोत्तर भारत के भाषाई परिदृश्य को देखने से जो मूल बातें निकलकर सामने आती हैं वे इस प्रकार हैं-

1. भारत में भाषाई वैविध्य की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत सर्वाधिक संपन्न है।
2. पूर्वोत्तर की यह भाषाई बहुलता उसे वैश्विक स्तर पर अप्रतिम बनाती है।
3. भाषाई वैविध्य के बावजूद सामाजिक, सांस्कृतिक सौहार्द में कोई समस्या नहीं है।
4. भाषाई वैविध्य के बावजूद बहुभाषिकता का दबाव मैदानी क्षेत्रों जैसा नहीं है, जहाँ छोटी भाषाएं अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रही हैं।

उपरोक्त तथ्यों को लेकर जब विचार करते हैं तो यह बात विचारणीय है कि राष्ट्रीय या क्षेत्रीय स्तर पर इनके अंतसंबंध का स्वरूप क्या है ? इस ओर जब ध्यान देते हैं तो 'राष्ट्रभाषा हिंदी और जनदीय बोलियाँ' शीर्षक लेख में प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय जी का वक्तव्य महत्वपूर्ण हो जाता है कि ''वस्तुतः भाषाओं की एकता का आधार केवल व्याकरण नहीं है। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं राजनैतिक कारणों से भी भाषाई एकता होती है। ये ही

कारण बिखराव के लिए भी उत्तरदायी हैं।'' प्रांतों की सीमाएं राजनीतिक होती है। राजनैतिक सीमाओं के आर-पार रहने वाले लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक संबंधों में कोई अलगाव नहीं होता। हम सभी अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ राष्ट्रीय चरित्र सहधर्मिता और सहजीविता के कारण विविधता में एकता को स्थापित करते हैं। मूल रूप से हम चाहे जिस जातीय समूह से संबंध रखते हों किंतु भारत की आबोहवा में विकसित होने के कारण भारतीय है।

पूर्वोत्तर के समुदायों में रहन-सहन, रीति-रिवाज, भाषा-बोली में वैविध्य होने के बावजूद भारतीयता के सूत्र उसी प्रकार देखे जा सकते हैं। आज पूर्वोत्तर भारत के अधिकांश भाषाओं के साथ राष्ट्रीय स्तर पर सर्वाधिक बोली समझी जाने वाली संपर्क-भाषा हिंदी का संबंध उसी प्रकार है। अधिकांश भाषाओं में हिंदी के शब्द और हिंदी में इनके शब्दों का प्रवेश हो रहा है। एक प्रकार से कहा जाय तो भाषा की नई शैलियों का विकास हो रहा है।

भाषा में सतत विकास की प्रक्रिया चलती रहती है। इसीलिए प्रत्येक युग में व्यवहार की भाषा मानक भाषा से थोड़ा बहुत विचलन लिए हुए होती है। पूर्वोत्तर की भाषाओं में भी सहजीविता और सहधर्मिता के कारण ही हिंदी शब्दों का प्रवेश दिखाई देता है। 2011 की जनगणना में हिंदी के अंतर्गत आने वाली भाषाओं की संख्या 49 गिनाई गई है। जिसे ध्यान में रखते हुए उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि एक दिन ऐसा आयेगा जब हिंदी की 200 भाषाएं होंगी और यह केवल भाषा ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की मूल प्रवृत्ति है। 'सब पलें-सब बढ़ें' की भावना के साथ सबका समान सम्मान और अधिकार भारतीय बहुलतावादी संस्कृति का मूल आधार है।

▲▲▲

संपर्क :- आचार्य, हिंदी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय, विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय

आदी धार्मिक लोकगाथाएं : एक अवलोकन

ईड़ परमे
प्रो. ओकेन लेगो

विविध विद्वानों ने लोक साहित्य के कई वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकसाहित्य को पाँच भागों में विभाजित किया यथा लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाट्य और लोकसुभाषित। शोधार्थी ने डॉ. कृष्णदेव जी के वर्गीकरण को अपनाया है। आदी लोकसाहित्य को सामान्यतः चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। अध्ययन के पश्चात शोधार्थी को आदी लोकसाहित्य में लोकनाट्य अप्राप्त है जो उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है।

आदी लोकगाथाएँ मौखिक रूप में विद्यमान हैं। इस समाज की लोकगाथाएँ समृद्ध हैं। लोकगाथाओं में कथात्मकता का तत्व और गेयता दोनों ही बराबर रूप से विद्यमान हैं। ये लोकगाथाएँ आकार में बड़ी और लंबी होती हैं। आदी गाथाओं का विषय विस्तृत है। सृष्टि, मनुष्य, भिन्न सजीव और निर्जीव वस्तुओं की उत्पत्ति, मनुष्य के जीवन से जुड़े प्रत्येक पक्षों का वर्णन किया जाता है। आदी लोकगाथाओं को विशेष अवसरों पर गाया जाता है जिसे केवल विशेषज्ञ ही गाते हैं। विशेषज्ञ को आदी भाषा में 'मीरी'[1], 'ताबे'[2], 'न्यीबू'[3], 'न्यीबो'[4], 'गोमेमाकी'[5], 'कारी'[6], कहते हैं। गाथाओं को गाना आसान नहीं है। इसे हर कोई नहीं गा सकता है। परंतु गाथाओं की जानकारी अधिकतर बड़े बुजुर्गों को होती है। स्त्री और पुरुष दोनों ही विशेषज्ञ होते हैं। परंतु वर्तमान में महिलाओं की तुलना में पुरुष ज्यादा है। महिला गाथाकारों की संख्या न के बराबर है। आज की तारीख में पुरुष गाथाकारों की संख्या भी दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। लोकगाथाओं का आदी समाज में विशेष स्थान है। जो लोक कंठों में ही उत्पन्न और विकसित होता है। आदी लोकगाथाओं को गाते समय वाद्ययंत्र का विशेष प्रयोग नहीं किया जाता है। केवल 'आबाड़',[7] 'आयीतमीरी'[8] के प्रस्तुति में 'योकसा' दाव का प्रयोग करते हैं। त्योहारों में गायी जाने वाली गाथाओं में 'कीरीड़'[9] का भी प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य वाद्ययंत्रों का प्रयोग नहीं किया जाता है। आदी संस्कृति में 'योकसा' की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह दाव के आकार का होता है। इसमें 'सापेर-सालह'[10] लगा होता है जिसे हिलाने पर झंकार निकलता है। इसकी खनक की धुन में पुजारी झूमते हुए गाथाओं को गाते हैं।

आदी लोकगाथाओं को गाने की अनेक शैलियाँ हैं। प्रत्येक शैलियों की प्रस्तुति में भिन्नताएँ हैं। इन लोकगाथाओं को सामान्य गीतों की तरह नहीं गाया जाता है। इन लोकगाथाओं को प्रस्तुत करने की कई शैलियाँ हैं।

आदी देश में प्रचलित लोकगाथाओं के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। आदी गाथाओं की कथा बहुत विस्तृत है तो कुछ गाथाएँ संक्षिप्त भी हैं। विवेचित लोकगाथाओं को निम्नलिखित वर्गीकरण से समझा जा सकता है-

1. धार्मिक आदी लोकगाथाएँ
2. उत्पत्तिपरक आदी लोकगाथाएँ
3. अनुष्ठानिक आदी लोकगाथाएँ
4. प्रेमपरक आदी लोकगाथाएँ
5. स्थानीय एवं वैदिक देवी-देवताओं से संबंधित आदी गाथाएँ
6. वंश परंपरा से संबंधित आदी लोकगाथाएं
7. मनोरंजन संबंधी आदी लोकगाथाएँ।

प्रस्तुत आलेख में धार्मिक आदी लोकगाथाओं का विवेचन किया जाएगा।

धार्मिक आदी लोकगाथाएँ

सभ्य कहे जाने वाले विकसित संस्कृति प्रकृति का दोहन करती है। जिससे आदिवासी संस्कृति का अस्तित्व खतरे में हैं। आदी समाज प्रकृति के सहचर है, वे प्रकृति के साथ तारतम्य बैठाते हैं, प्रकृति उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। डॉ. न्योरी कहते हैं-

"They tried to adjust themselves with the nature and wanted to live in peace and free from diseases, suffering and misfortune. Their curiosity to know who was the creator and controller of the phenomena of the nature led them to invent anumber of explanations in the form of myths which are embodied in the ballads called abangs by the Padam-Minyongs."[11]

उपासना करने के लिए कोई विशिष्ट स्थान मंदिर-मस्जिद, गिरिजा घर नहीं है। इनके धार्मिक स्थल तो खुला आकाश है। प्रकृति ही इनका मंदिर, मस्जिद है। यह कहीं भी अपनी उपासना कर सकते हैं। आदी समाज आकृति का नहीं बल्कि प्रकृति का पुजारी है। आकृति और मूर्तिपूजक नहीं है। प्रकृति के साथ आदीयों का संबंध उतना ही पुराना है जितना इनका जीवन।

आदीयों में समय-समय पर पशु बलि प्रदान करने की परंपरा है। आदी समाज में बलि के बिना कोई भी पर्व, अनुष्ठान, समारोह संपन्न नहीं होता है। आदी समाज में अच्छी और बुरी आत्माओं (शक्तियों) पर विश्वास करते हैं। आदी समुदाय का धर्म प्रकृति से अच्छी-बुरी आत्माओं,

अपने पूर्वजों से संबंधित है। आदी जन अपने दिवंगत पूर्वजों को हितैषी परमात्मा का रूप स्वीकार करते हैं। इस तरह आदी समाज में परम्परागत विधि-विधान के अनुसार पूजा-पद्धति निर्धारित है। आदी संस्कृति और धर्म को पृथक कर देख नहीं सकते, आदी संस्कृति किसी न किसी रूप में धर्म से जुड़ी हुई है। आदी लोग अलौकिक शक्ति में विश्वास करता है। दैनिक प्रथाओं में दोन्यी-पोलो से जुड़ी आस्था को देख सकते हैं। दोन्यी-पोलो को साक्षी मानकर उनकी ईश्वरीय कृपा को प्रार्थना कर विवादों में ''आमकी-पेकी''[12] के द्वारा दोन्यी -पोलो की सहायता की कामना करते हैं और भरी-सभा में सत्य और न्याय की परीक्षा पवित्र सामग्री अंडे, पानी, मिट्टी, मिथुन, मुर्गी आदि से करते हैं- दोन्यीसीकीर कीरबुड़तलोक आसीयोनलोड़मयोनतुल

दोन्यीदुलीगअमपीदाकसीम
पोलोमपोमअमरोमदाकसीम
दोन्यीसीकीर अ कीरबुड़ सो
दोन्यीसीकोअमजुदीसीदाकसीम
पमीतीसीनाकम,
तासोदोयोबनाकम
लाकप्योबयोदमतनाकम
पोलोगोमतड़ तना कम
दोन्यी काकी नो,
पोलोयायोनो,
मीलोबलीअम
न्यामनेबलीअम
लाकप्योबलीअम
मपी लाड़का।''[13]

भावानुवाद-

उबलते अंडे को खाली हाथों से निकालकर विवादित दोनों पक्षों में से एक दूसरे के मुँह पर फेंककर दोन्यी-पोलो के नाम पर शपथ लेते हैं। इसमें अपराधी का हाथ गर्म पानी से जल जाता है और निर्दोष को न्याय मिलता है। यदि हाथ जलता है तो दोषी करार कर दंड या जुमार्ना देना होता है और बेगुनाह को कुछ नहीं होता। 'आमकी' की प्रथा आदी समाज में सर्वमान्य है। आदी समाज में न्याय संबंधी या न्यायिक और धर्म अन्योन्याश्रित है। 'आमकी' शपथ और न्याय की पारंपरिक प्रथा का वर्तमान समाज में भी प्रचलन है। दोन्यी-पोलो पर लोक आस्था को देवी-देवताओं की उपासना के माध्यम से भी समझा जा सकता है। पर्वों पर पशु की देवता दादी बोते की आराधना की जाती है, जिससे प्राकृतिक आपदाओं और बीमारियों से पशुओं की रक्षा हो। इस संदर्भ में गाथा दृष्टव्य है-

''कोन्नोअड़ो आने दीदूमअम
दादी बोते नोक
दोरनेकलेपकलनबीनामअ
युसीड़कलेपकलनबीनामअम
अड़ो आने दीदूम अ
दादी लुड़गुमअम, आन्दोकलुड़गुमअम
गुम्बीतुड़, कोपुड़लुड़गुमअम
आन्दोकआकबेपबेगेनामअम
दादी आकबमपबेमोलाड़का
कोपुड़आबो अ पोमोरगनामअम
उसीड़आबोअमपोरमोमोलाड़क
सीलो, योगामरीबुड़अमपुननुदाक्कू
दादी केपेलपेलबी दाक्कू।''[14]

भावानुवाद- दादी बोते देवता, आज इस 'केपेल'[15] को तुम्हारे नाम चढ़ाया जा रहा है। अड़ोताकार वासियों को तुमने पालतू पशुओं को दिया था फिर अड़ोताकार से हमने प्राप्त किए और आज तक पशुओं के पालन की व्यवस्था है।

आज भी मनुष्य ऋणी है, इस चढ़ावे के माध्यम से हमारा आभार स्वीकारें और हम पर, पशुओं पर कृपा दृष्टि बनी रहे। आज भी दादी, बोते देवता को केपेल देने की प्रथा प्रचलित है।

आदी ताड़गाम पर्व कोबो में गृह देवता गुमीनसोमीन की वंदना की जाती है। कोबो में युवक इकट्ठे होकर घर-घर जाकर गाते हैं-

''बोगनगुमीनसोयीनबूलू
ड़ोक आने गुमीन सी
बोगन आने गुमीनसी
गुमीनडूरीपुन्ने
मीअसीनकाडूमाड़
मीना नोगेताङ्गा
तोदीसीदेपुईदुनदी
यामेमेयोदुतेदू
तोदीसीपेपुईदुमतूला
गुमीनतायूलूबो आद्ड़।''[16]

ओ! गृह देवता गुमीनसोयीन। डूरीपून्ने गाँव में हमारा कोई रखवाला, संरक्षक नहीं है। तुम्हीं रखवाला हो, कर्ता-धर्ता हो। अब पुराना साल बीत चुका है नव वर्ष में तुम्हारी स्तुति हेतु हम आए हैं, आप आशीर्वाद दें।

गृह निर्माण के पश्चात्य 'कुमनीमोजीन' यानी गृह प्रवेश समारोह में कुमनीमोजीनआबाड़ (गाथा) गाया जाता है। इस गाथा में घर को देखभाल करने वाले 'गुमीन-सोमीन' की वंदना की जाती है। उनके 'आशीष'की कामना के साथ घर के बनने की प्रक्रिया, उसकी उत्पत्ति, गृह निर्माण में प्रयोग आने वाली तमाम वस्तुओं की उत्पत्ति, उनकी महत्ता आदि पौराणिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

''गुमीन न नाने
पापाड़ड़ोलूताबू अ
निनू अ लाड़कू प
सोयीन न नाने
पापाड़ड़ोलूताबू अ
निनूसूलाड़कू प।''[17]

आदी समाज के जीवन को दोन्यी-पोलो प्रभावित करते हैं जो दादी बोते, गुमीनसोयीन आदि देवताओं के नामों से, अलग-अलग परिस्थितियों में उल्लेखित है। दोन्यी-पोलो का साथ प्रत्येक पक्षों पर है- जन्म से मृत्यु और उसके बाद भी। आदी में यह मान्यता है कि दोन्यी-पोलो से ही आत्मा की उत्पत्ति हुई है और आत्मा का घर दोन्यी-पोलो ही है। दोन्यी-पोलो के द्वारा ही आत्मा शरीर में आती है

मरणोपरांत उसी के पास चली जाती है। आदी दोन्यी-पोलो को एक सुंदर भूमि मानती है। वह उसे दोन्यी-पोलोआमोड़ अर्थात 'आलोक/आत्मज्ञात की धरती' कहते हैं। यह स्वर्ग का ही रूप कह सकते हैं। जहाँ सदैव सुख, शांति और सुंदरता विद्यमान रहती है। उनकी अनन्त इच्छा है कि वह उस आलोक की सुंदर भूमि पर वापिस चला जाए। इसलिए आदी समाज में मृतक की आत्मा को दोन्यी-पोलोआमोड़ तक पहुँचाने के लिए पड़े अर्थात शोक गाथा गाने की प्रथा है। इस संदर्भ में प्रकाश डालती पड़े की कुछ पंक्तियाँ -

''दोनी आने आजी कोने
दोड़ोर अ ओलो अ योरने कोने आई।
पदीपेबायुगेबीकाई
पोसुमपदीपेबायुगेबीकाई आई।
दोन्यीआउन अ सुनसु तलो
पोलोलातबोड़ अ तातोड़को तलो,
नोआसूब अ सीबलीग अ दाकलाडका आई।
पोसुमआसूब अ सूबलोग अ दाकलाडका आई।
नोकाड़कुद अ कलूकुमा पका
पोसुमकाड़कुद अ कलूकुमा पका आई।।''[18]

भावानुवाद-

ओ, मानव का बच्चा ! तुम्हारा शरीर सांसारिकता को छोड़कर आध्यात्मिकता में परिवर्तित हो चुका है। तुम अपने आध्यात्मिक यात्रा पर आगे बढ़ो, आलोक की भूमि पर अपना आध्यात्मिक निवास स्थापित करो। हमारी संसार की ओर कमी भी पीछे मुड़कर नहीं देखे।

आदी में यह मान्यता है कि वह कभी नहीं चाहता कि आत्मा कभी इंसानी दुनिया में वापस लौटे। यदि आत्मा इंसानी दुनिया की सीमा को पारकर इंसानों को देखें तो वे बीमारी से ग्रस्त होते हैं जिसे (ऊरोमकानाम) कहते हैं। पड़े में मृतक की आत्मा को मृत घोषित नहीं करते वे बायुक (गीत के अंश में वायुग अ) यानी रूप भेद/रूपांतरण कहकर संबोधित करते हैं। शारीरिक मृत्यु के पश्चात्य आत्मा दोन्यी-पोलोआमोड़ की तरफ अपनी आध्यात्मिक यात्रा शुरू करती है।

दोन्यी-पोलो की स्थापना किसी ने नहीं की। इसकी कोई प्रचारक का पैगंबर नहीं हैं। यह तो लोक आस्था का क्रमिक विकास है। आदी समाज को देखें तो लोगों में दोन्यी-पोलो के प्रति असीम आस्था है। आदी अनुष्ठानों, विश्वासों, मूल्यों आदि का संगठित रूप है- 'दोन्यी-पोलो'। दोन्यी-पोलो वही है जिसकी आराधना आदी समाज में युगों से करती आ रही है। इनके प्रति भक्ति इस समाज की जीवन शैली में झलकती है। इस समाज में शिशु के जन्म, विवाह, त्योहारों, खेती करने से पूर्व अच्छी फसल की कामना, पारंपरिक अनुष्ठानों, किसी के बीमार होने आदि पर वे दोन्यी-पोलो की कृपा दृष्टि और दिव्य सहायता के लिए अपनी आस्था को बनाए हुए हैं। (दोन्यी-पोलो का आध्यात्मिक अर्थ ईश्वर है, भौतिक अर्थ सूर्य (दोन्यी) और चन्द्रमा (पोलो), दार्शनिक अर्थ धार्मिक निष्ठा है।

इस तरह दोन्यी-पोलो की अवधारणा के संबंध में मतैक्यभिन्न हैं। परंतु वे ईश्वरीय प्रतीक हैं जो सर्वमान्य हैं। आदी जीवन को संचालित कर सुमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करने वाला है। दोन्यी (सूर्य) और पोलो (चन्द्रमा) पारंपरिक रूप से स्थापित आदी आस्था के प्रतीक हैं। दोन्यी-पोलो को विचारधाराओं के विकासपरक परिणाम कह सकते हैं। अंत में इन प्रश्नों के समाधान के रूप में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवश्य कोई अलौकिक, अदृश्य, प्रकृति से भी शाक्तिशाली तथा मनुष्यों के सामर्थ से ऊपर की ऐसी शक्ति है जिसका नियंत्रण विश्व की रचना लेकर इसके विनाश तक प्रसारित है। वह ही मनुष्य के भाग्य का नियामक है। इस शाक्ति को आदी जन 'रूना' (मार्ग दर्शक)की संज्ञा से अभिहित करते हैं। लगभग आदी समाज कि प्रत्येक पक्षों को धर्म प्रभावित करती है। आदी में पुजारी को मीरी, न्यीबो, न्यीबू, ताबे कहा जाता है। 'मीरी धर्म स्वरूप है, वह ईश्वरीय शक्ति का प्रतिनिधि है।'[19] पूजा-अनुष्ठान, पर्व-संस्कार की व्यवस्था मीरी द्वारा ही संपन्न होता है। 'मीरी आध्यात्मिक जगत और मनुष्य जगत के बीच मध्य रूप का कार्य करता है।'[20]

धर्म गुरुओं का जीवन सामान्य लोगों की ही तरह होता है। मीरी वंशगत या निर्वाचित नहीं होती। वह तो जन्मजात गुणों से युक्त होता है। आदी धार्मिक पक्ष में इनकी अहम भूमिका है। लोक गाथाओं को मीरी ही लोगों तक पहुँचाता है। मीरी द्वारा ही सारे धार्मिक कार्य संपन्न होते हैं। वे आध्यात्मिक मार्गदर्शक, संसूचक है। जैसे सोलुड़ पर्व में गाया जाने वाला लीमीरलीबोम गाथा में जब निराकार, अनिश्चित लीमीरसोबो नामक पौराणिक जीव को पता लगाने हेतु निम्न धर्म गुरुओं के पिता दोयीड़ आमंत्रण देती है। सर्वप्रथम, सीकीड़कीपीर, बीसीकपीड़, दोयीड़रमीनमीनदी, दोयीरीकोपकोपसी, कीलूड़लुपाड़पासी गोरी, दोयीड़रोसी को बुलाया जाता है तत्पश्चात सबसे बड़े मीरी दादी कारकी उस निराकार जीत को ड़लीमीरसोबो' होने की मतिव्यवाणी करता है। मिथकीयजीव लीमीरसोबो से मिथुन की उत्पत्ति होती है। इस संदर्भ में गाथा दृष्टव्य है-

"दलो मयूमदोयीड़ बोते
दोयीड़रकीअम रमो लनकाने
तुमीरकूअम रमो लनकाने
इड़कोरुड़कोयमीरोलीअमगोकलननासी
अमला दोदूरकीअम रमो लड़काने
पदोदोदाड़अ दादी मलाड़
पदोइमूअमगोगदूमसीतुला
पदोदोबीअबीसी म
तुमीतागुममपुम्सुलन्दुला
तुमीबपुअमरामरालन नाम अ
मामपोड़आबल अ बगल रुनाको
मामबीरीआनमतादारूनाकों
मामबीरोलीअमगोकदूनासी
इड़कोमीबुअईपादड़अई
ताबे दोड़गुमअम कालू बीयेने
लनीलीसामअमकाड़गोरबिये न अमला
तुमीरकीअम रमो लनये दम अ
सीकीड़कीपीर अ ताबे बुलुम
बीसीकपीड़ अ ताबे बुलुम

दोयीरमीन अ मीनदी ताबे बुलुम
दोयीरीकोब अ कोपसीलनी ताबे बुलुम
कीलूलुपाड़ अ पासीगुरी अ ताबेम
दोयीरोसीअ ताब बुलुम
ताबे इमूअमगोकदुम सूतो
ताबे काड़केन अ काड़गोबिकुमाड़
इड़कोमीबो अ ताबे
ताबे दोड़गुमअम कालू।
बीयेन अ अमला
दोदूरकूअम रमो काकून अ
दादी कारकी ताबे म
ताबे रीकबोअमबोलीक तो
दादी कारकी अ ताबे
ताबे काड़केन अ काड़गोबोमकान अ क
सेदीमापपोड़ अ लोदोड़को
ताबे तुतगअमबरकलनतो
सेदीदीलीड़ अ लीमीर।"[21]

वर्तमान समय में भी इन धर्मगुरुओं का समाज में विशिष्ट स्थान है। 'लीमे-तागीलमीरी' चोर, बीमारी के कारण, आदि को ढूंढ़ निकालते हैं। पूवार्नुमान, भविष्यवाणी करने की मीरी में शक्ति होता है। आदी समाज के निर्माण में 'मीरी' का अहम योगदान है।

निष्कर्ष

लोकगाथाओं के द्वारा आदीयों ने अनुभव ज्ञान की प्रस्तुति की है। आदी गाथाओं में सुदीर्घ कथानक भी प्रधानता है। आबाड़ के कथानक इतने लंबे होते हैं कि एक ही गाथा को एक पुस्तक के रूप में लिखी जा सकती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती आई गाथाओं में संगीत तथा नृत्य का अनूठा साहचर्य है। गाथाओं को नृत्य करते हुए गाने की भी आदी प्रथा है। सृजनकर्ता के अज्ञात होने पर भी इतिहास काल से अद्यतन आबाड़ का स्वरूप जीवंत है ।

संदर्भ

1-2. मीरी/ ताबे- आदी पादाम-मिञोड़उपजाति पुजारी को मीरी/ताबे कहते हैं। लगभग अधिकतर उपजाति में इसी नाम से 'मीरी' अभिहित है। 'मीरी' गीत और गाने वाले को भी कहते हैं। आदी में एक शब्द के अनेक अर्थ हैं।

3-4. न्यीबू/न्यीबो- आदी बोरी-बोकार, पाइलिबो, रासोउपजाति में 'मीर' को न्यीबू/न्यीबो कहते हैं।

5. गोमेमाकी- आदी बोरी उपजातिगोमे नायक गाथा गाने वालो को कहते हैं।

6. कारी- यह आदी बोरी उपजाति में आम्मा-चाचा, हादो बदे नादो, हाईकाड़ स्त्री केंद्रित आदि गाथाओं को गाने वाली स्त्री गाथाकार को कारी कहा जाता है।

7. आबाड़- आदी लोकगाथाओं को कहते हैं।

8. आयीतमीरी- रोग के उपचार में गाए जाने वाली गाथा।

9. कीरीड़- घुघरुओं के गुच्छे

10. सापेर-सालह- पीतल/तांबे का प्लेट

11. डॉ. ताई न्योरी, हिस्टरी एंड कल्चर ऑफ द आदीज, पृ. 266

12. आमकी-पेकी- शपथ, न्याय की परीक्षा

13. एम.सी. बेहरा, एस.के. चौधरी, इन्डिजिनॉस फेथ एंड प्रैक्टिस, पृ. 62-63

14. इन्डिजिनॉस फेथ एंड प्रैक्टिस, संपादक- एम.सी. बेहरा एस.के. चौधरी, पृ. 65

15. केपेल- एक प्रचलित आदी प्रथा जिससे अड़ोताकार (पहली सभ्य समाज) वासियों ने शुरू किया। दादी बोते के संदर्भ में। इस प्रथा में बलि चढ़ाई जाती है।

16. तरुण कुमार भट्टाचर्जी, द ताड़गाम, पृ. 44

17. पोपोक्स लुमान आबाड़, ईटानगर सोलुड़ समिति द्वारा प्रकाशित 2015, पृ. 77

18. इन्डिजिनॉस फेथ एंड प्रैक्टिस, संपादक- एम.सी. बेहरा, एस.के. चौधरी, पृ. 53

19. धर्मराज सिंह, अरुणाचल की आदी जनजाति का समाजभाषिकी अध्ययन, पृ. 85

20. डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह, अरुणाचल का लोकजीवन, पृ. 77

21. लीमीर लीबोम आबाड़, प्रकाशक आदी कल्चरल एण्ड लिटरेरी सोसाइटी, पासीघाट, 1978-1979.

▲▲▲

संपर्क : आचार्य, हिंदी विभाग,
राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर
अरुणाचल प्रदेश

तागिन लोकोक्तियां : परिचय, स्वरूप एवं विशेषताएं

डॉ. तारो सिन्दिक

अरुणाचल प्रदेश एक जनजातीय प्रदेश है जहाँ पर छब्बीस विभिन्न जनजातियाँ वास करती हैं। अरुणाचल प्रदेश के निशी, गालो, आदी तथा आपातानी आदि की तरह ही तागिन जनजाति भी अपने आपको आबो तानी का वंशज मानती है। उनके अनुसार 'आबोतानी' और 'आनअ यापी' उनके पूर्वज हैं। आबोतानी और आनअ यापी की तुलना 'मनु-श्रद्धा' या 'आदम-इव' के साथ की जा सकती है। तागिन लोगों की मान्यता है कि मानव जाति की उत्पत्ति इन्हीं आदिम स्त्री-पुरुष से हुई हैं। तागिन जनजाति के नामकरण, उत्पत्ति के स्रोत तथा विस्थापन आदि के संबंध में कई धारणाएँ लोगों में आज तक बनी हुई हैं। लिखित दस्तावेज या प्रमाण के अभाव में तागिन जनजाति की ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त करना लगभग नामुमकिन है। यह आश्चर्य की बात है कि तागिन लोगों को स्वयं नहीं मालूम कि 'तागिन' शब्द का अर्थ क्या है और कहाँ से आया ? इतना तो स्पष्ट है कि तागिन शब्द कहीं बाहर से ही आया हुआ है क्योंकि इस शब्द का उल्लेख तागिन लोक-कथाओं एवं गीतों में कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ तक कि धर्म गुरुओं को भी इस शब्द के विषय में पता नहीं है। ध्यातव्य है कि अरुणाचल प्रदेश में केवल दो जनजातियों, मोम्पा और खामती- के पास ही अपनी लिपि हैं, जिनके कारण उनका इतिहास आज भी लिखित रूप में सुरक्षित है। लेकिन शेष जनजातियों की अपनी लिपि विकसित नहीं हो पाई है, जिसके कारण उसके संबंध में ठोस जानकारी अनुपलब्ध है। इसी कारण केवल जनश्रुतियों एवं किंवदंतियों के आधार पर ही इन जनजातियों का इतिहास मालूम किया जा सकता है, जिनमें से तागिन भी एक है।

लोक साहित्य के अध्ययन में लोक-कथाओं तथा लोकगीतों की अपेक्षा लोकोक्तियों का भी महत्व कम नहीं है। लोकोक्तियाँ भी जीवन की वास्तविक घटनाओं से उतनी ही जुड़ी रहती हैं जितनी लोक-कथाएँ एवं लोकगीत। समाज में किसी विशेष घटना या व्यक्ति-विशेष की महत्वपूर्ण उक्ति जन-सामान्य के बीच प्रचलित होकर लोकोक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं और आम जनता के लिए नीति वचन की तरह काम करने लगती हैं। उपदेश और नीति का पुट लोक-कथाओं एवं गीतों में भी होता है, परंतु लोकोक्तियों और मुहावरों में यह जिस शैली में प्रस्तुत किया जाता है वह लोक-कथा एवं लोकगीतों से सर्वदा परे है। डॉ. सत्येन्द्र ने लोकोक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए लिखा है कि, ''किन्तु ऐसा भी साहित्य है, जिसमें अभिव्यक्ति का इतना विस्तार नहीं, और जिसका अभिप्राय कथा अथवा गीत की तरह किसी बात के आनन्द के लिए कहने की प्रवृत्ति में कम मिलता है। किन्तु जिसमें बहुत संक्षेप में कुछ व्यवहार विषयक बातों को प्रकट करने की प्रवृत्ति विशेष होती है। जिसमें कथा तत्त्व बहुत लघु होता है अथवा नहीं भी होता है।''[1]

उपरोक्त वाक्यों में सत्येन्द्र जी ने लोकोक्ति और लोक-कथाओं एवं लोक-गीतों में विद्यमान विभेद को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार लोकोक्तियों एवं मुहावरों में मनोरंजन या आनंद तत्व का स्थान नहीं होता और न ही वह कथा एवं गीतों की तरह विस्तृत होते हैं। छोटे से वाक्यांश से किसी विस्तृत प्रसंग को अभिव्यक्त करना लोकोक्तियों एवं मुहावरों की सबसे बड़ी विशेषता है।

तागिन लोक-सुभाषित में लोकोक्तियों का प्रमुख स्थान है। यह दोनों अवयव तागिन जनजाति के बुजुर्ग वर्गों द्वारा अर्जित जीवनानुभवों का प्रतिफलन है। यह अनपढ़-गंवार और जंगली कहे जाने वाले लोगों की बौद्धिक क्षमता का प्रमाण है। जब भी घरों में या समाज में किसी भी प्रकार का आयोजन होता है तो बुजुर्ग वर्ग अपने वचनों में लोकोक्तियों या मुहावरों का प्रयोग किये बिना नहीं रहता। मजे की बात यह है कि ऐसे प्रयोग के लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ता। वह तो उनके हृदय-कोश से अनायास ही प्रस्फुटित होती हैं। अभिव्यक्ति शैली की विशिष्टता एवं अर्थ-व्यंजना की विलक्षणता की दृष्टि से तागिन लोकोक्तियाँ अधिक प्रखर एवं पैनी हैं। इन लोकोक्तियों को तागिन में 'कुर्युम ञितिन' कहा जाता है। 'कुर्युम' का अर्थ है आदिम युग और 'ञितिन' अर्थ होता है, उक्ति या वचन। अतः 'कुर्युम ञितिन' का अर्थ हुआ आदिम युग में ज्ञानी लोगों के वाणी से निकले नीतिपरक एवं ज्ञानवर्द्धक वचन। तागिन लोकोक्तियों का एक संग्रह 'कुर्युम ञितिन' के नाम से प्रकाशित हो चुका है जिनके सम्पादक गण हैं, आबे मारदअ, रोकपो दाबु लुई तामिन तथा ए.वी. कृष्णमूर्ति अय्यर। इस लघु-पुस्तक की भूमिका में तागिन लोकोक्तियों की प्रवृत्ति स्पष्ट करते हुए लिखा गया है, ''अधिकतर लोकोक्तियां तागिन जनजाति की दैनन्दिनी से जुड़ी हुई है। नीति-सिद्धान्त, आचार-संहिता, अमीरी-गरीबी, भाग्य-शिकार, कृषि, विवाह, परिश्रम, चतुराई, सदभावना, उदारता, पालतू-पशु आदि ऐसे विषय हैं जो रोजमर्रा की जिंदगी से संबद्ध है। ये लोकोक्तियां इन्हीं विषयों पर केन्द्रित है।''[2] उन वचनों में निहित व्यंजनात्मक अर्थ पीढ़ी-दर पीढ़ी तागिन जन-जीवन के मार्ग-दर्शक की भूमिका अदा करते आ रहे हैं। जीवन के वास्तविक तथ्यों से निर्मित इन लोकोक्तियों ने लोक-जीवन में इस तरह प्रसार

पाया कि वह महज व्यक्ति-विशेष तक सीमित न होकर समष्टि की सम्पत्ति बन गई। वर्तमान युग में इन लोकोक्तियों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के आयोजनों में किया जाता है। विशेषकर युवा वर्ग को जीवन संबंधी तात्विक ज्ञान प्रदान करने के लिए इन लोकोक्तियों का प्रयोग किया जाता है।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकोक्तियों की तीन विशेषताएँ निर्धारित की हैं, (क) समास शैली (ख) अनुभूति और निरीक्षण तथा (ग) सरलता। वहीं डॉ. श्रीराम शर्मा ने अपनी पुस्तक लोक साहित्य : सिद्धांत और व्यवहार में डॉ. दक्षिणामूर्ति द्वारा विवेचित लोकोक्तियों की विशेषताओं का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है- (क) लघुत्व (ख) लय या गीत (ग) तुक या अनुप्रास (घ) निरीक्षण और अनुभूति की अभिव्यंजना (ड़) प्रभावशाली और लोकरंजकता तथा (च) सरल शैली।"[3] इनमें से क, घ तथा च तो डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय द्वारा निर्धारित विशेषताओं से भिन्न नहीं है। ख और ग लोकोक्तियों के कला पक्ष पर केंद्रित है इसलिए इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे। इस प्रकरण में केवल लोकोक्तियों के भाव-पक्ष की ही विवेचना प्रस्तुत की जा रही है। किसी भी प्रांत की लोकोक्तियों का उत्स या स्रोत आमतौर पर एक होने के कारण उनकी विशेषताएँ भी लगभग एक समान होती हैं। इसी कारण तागिन लोकोक्तियों में भी कृष्णदेव उपाध्याय तथा डॉ. दक्षिणामूर्ति द्वारा निर्धारित सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम तागिन लोकोक्तियों की विशेषताओं को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित कर उन पर विचार करेंगे।

(1) नीति और उपदेश :-

हिंदी साहित्य कोश के अनुसार, ''लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिनमें बुद्धि और अनुभव की किरणें फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती हैं... लोकोक्ति साहित्य संसार के नीति साहित्य का प्रमुख अंग है।''[4] प्रत्येक समाज में प्रचलित लोकोक्तियाँ अलिखित कानून के रूप में मानी गयी हैं। मनुष्य अपनी बात को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए इनका प्रयोग करता है। लोक में पीढ़ियों से प्रचलित इन उक्तियों में अनुभव का सार एवं व्यावहारिक नीति का निचोड़ होता है। तागिन में प्राप्त लोकोक्तियाँ भी नीति और उपदेश से परिपूर्ण हैं। इसका प्रयोग ही किसी को उपदेश देने हेतु किया जाता है। आगे हम कुछ लोकोक्तियों के माध्यम से इस तथ्य की पुष्टि करेंगे।

(क) लिन्दो नअड़अ पोकमाप ला, गोयी नअड़अ सिड़सू ला। **अर्थात** जो अत्यधिक चंचल और असंतुलित होता है, जीवन के मार्ग में ठोकर खाता है और जो संयमित रहता है वह जीवन में अपार सफलता को प्राप्त करता है।

इस लोकोक्ति के माध्यम से युवा पीढ़ी को यही उपदेश दिया जाता हैं कि हमें किसी भी परिस्थिति में मन को संयमित रखना चाहिए। असंतुलित और चंचल मन हमारे पतन का कारण बनता है।

(ख) कोलुड़ बअ चेचुड़ माबअ का, ताड़ो बअ बारिड़ माबअ का।"

अर्थात परिवार और समाज में रहकर कोलुड़ और ताड़ों जैसा किसी कोने में पड़े नहीं रहना है। यह एक सामाजिक लोकोक्ति है जिसमें यह उपदेश दिया जाता है कि समाज और परिवार में रहने के लिए हमें लोगों के साथ मिल जुलकर चलना होगा। मन में किसी भी प्रकार का छिपाव या दुराव नहीं रहना चाहिए। इस लोकोक्ति का प्रयोग विवाह और अन्य मसलों के निमित आयोजित सभा में भी किया जाता है जिसमें मध्यस्थ व्यक्ति द्वारा दोनों पक्षों को यह कहा जाता है कि जो भी बात रखें, उसे सम्पूर्णता में और खुले हृदय के साथ रखें, आधी-अधूरी नहीं। जो ऐसा नहीं करते उनकी तुलना कोलुड़ और ताड़ो नामक जंगली पेड़ों से की जाती है। ये दोनों जंगली पेड़ अन्य पेड़ों से अलग किसी कोने में ही उगते हैं इसलिए वे संकीर्णता और निकृष्टता का प्रतीक बनकर इस लोकोक्ति में आये हैं।

इस प्रकार से तागिन में प्राप्त सभी लोकोक्तियाँ किसी-न-किसी प्रकार के उपदेश देने हेतु निर्मित है, जिसका आधार-भूमि प्रकृति के तमाम उपादान हैं, जो जन-जीवन को सदियों से प्रभावित करते आये हैं।

(2) समास शैली :-

लोकोक्तियों की सबसे पहली विशेषता है इनकी समास शैली। कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार,''लोकोक्तियाँ आकार में तो छोटी हैं परंतु इनमें विशाल भाव-राशि सिमटी पड़ी रहती है।''5 तागिन लोकोक्तियाँ भी समास शैली में रचित है। इनके रचयिताओं ने बड़े-बड़े प्रसंगों को एक छोटी सी उक्ति में व्यक्त करके अपनी अद्भुत विचार-शक्ति और सूझ-बूझ का परिचय दिया है। हिंदी साहित्य जगत में दोहा छंद में जो गुण है वही गुण तागिन लोकोक्तियों में भी पाया जाता है। बिहारी की भांति ही तागिन लोकोक्तियों में 'गागर में सागर' भरने की अपार क्षमता है।इनका उक्ति वैचित्र्य किसी अभिजात्य साहित्य से कम नहीं है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित लोकोक्ति को ले सकते है- ''बअनअ बजप नअ नम्बू जपतू ला

दोतअ बजप नअ लम्दा लपलप ला।''

जिस गृहिणी की जुबान बेलगाम चलती रहती है, उससे घर की सुख, शांति और एकता समाप्त हो जाती है, जिस प्रकार से हल्की परंतु निरंतर बूँदा-बांदी से जमीन ज्यादा फिसलन भरी हो जाती है।

यह लोकोक्ति आकार की दृष्टि से केवल दो पंक्तियों की है, परंतु इसमें जीवन से जुड़े एक व्यापक और व्यवहारिक पक्ष को उजागर किया गया है। अपनी जुबान पर काबू रखना महिलाओं के लिए मयार्दा का एक अंग है। जो महिलाएँ आवश्यकता से ज्यादा जबान चलाती हैं वे गृहस्थी की तबाही का कारण बनती हैं। उसकी तुलना बारिश की उन हल्की-धीमी बूंदों से की गयी है जिनके निरंतर बरसने से मिट्टी की चिकनाई बढ़ जाती है, जिसमें फिसलने की संभावना ज्यादा होती है। तागिन में ऐसी स्त्रियों को हेय दृष्टि से देखा जाता है, जो स्थान और समय के औचित्य का ध्यान रखे बिना कुछ भी बोलती रहती हैं। ऐसी स्त्रियाँ ही परिवार की अखंडता में दरार उत्पन्न करती हैं। अतः निरर्थक बातें करने वाली स्त्री एवं निरंतर बरसने वाली बूँदों में, इस प्रसंग में साम्य पाया जाता है। इतनी बड़ी बात इस छोटी सी लोकोक्ति में कही गयी है। ऐसा समास शैली के कारण ही हुआ है। एक और उदाहरण द्रष्टव्य है- ''यापा दअगा नअ बअनअ रअमा ला

इयेजर दअगा नअ लाकतअ रअमा ला।''

अर्थात जो युवक अतिरिक्त खाना खाता है वह 'बअनअ' नहीं खरीद सकता उसी प्रकार जो युवती अतिरिक्त खाना खाती है, वह लाकतअ यानी स्थानीय आभूषण नहीं खरीद सकती।

इस छोटी-सी लोकोक्ति में भी एक व्यापक प्रसंग निहित है। तागिन समाज में 'बअनअ' यानी स्त्री को खरीदकर (ब्याहकर) ले जाना बहुत गौरव की बात होती है। उसी प्रकार जिन स्त्रियों के पास अधिक मात्रा में स्थानीय आभूषणों का जमावड़ा हो, उनकी भी मान-सम्मान अधिक होता है। यह दोनों कार्य इतने सरल नहीं होते हैं। दोनों के लिए आर्थिक समृद्धि एक अनिवार्य शर्त है और आर्थिक समृद्धि तभी संभव है जब अर्थ का व्यय उचित समय और सही अनुपात में हो। यहाँ अतिरिक्त खाना खाने से आशय है व्यर्थ ही धन का खर्च करना। जो व्यक्ति अर्थ का मूल्य नहीं जानता वह अर्थ का संचय नहीं कर सकता और जो अर्थ का संचय नहीं कर सकता वह धनाभाव में न तो किसी लड़की से विवाह रचा सकता है और न ही स्त्री आभूषण खरीद सकती है। इसीलिए इस लोकोक्ति के माध्यम से युवा वर्ग को उचित्र मात्रा में अर्थ-व्यय का उपदेश दिया गया है।

(ग) अनुभूति और निरीक्षण :-

तागिन लोकोक्तियाँ शुद्ध जीवन-अनुभूतियों पर आधारित हैं। विधिवत शिक्षा व्यवस्था से कोसों दूर रहने वाले लोगों द्वारा निर्मित इन लोकोक्तियों में जो बौद्धिक एवं भावनात्मक अभिव्यक्ति हुई, इसकी आधार-भूमि जीवन की अनुभूतियाँ ही हैं। तागिन लोकोक्तियों में प्रकृति का पूरा वैभव विद्यमान है। डॉ. श्रीराम शर्मा के अनुसार, 'लोकोक्तियाँ अद्भुत ज्ञान की रत्नाकर हैं। इनका प्रयोग विश्व की सभी भाषाओं में होता है और जन-समुदाय के सामान्य ज्ञान और निरीक्षण को प्रकट करता है। ये मानव-प्रकृति और उसके व्यावहारिक ज्ञान का द्योतक हैं, जो उसे उत्तराधिकार में सदैव से प्राप्त होती चली आ रही हैं।'[6] तागिन समुदाय के भी अधिकांश लोकोक्तियों में प्रकृति का कोई-न-कोई उदाहरण विद्यमान है। आदिम युग में मानव और प्रकृति का घनिष्ठ संबंध रहा है। जीविकोपार्जन के लिए वे प्रकृति पर ही आश्रित थे। प्रकृति के सानिध्य में रहने वाले लोगों ने अनायास ही प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। तागिन लोकोक्तियों में इसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों एवं उपादानों में जहाँ आदिम मानवों ने अपने जीवन की वास्तविक घटनाओं से साम्य पाया तो उन तथ्यों को व्यक्त करने के लिए प्रकृति के उन्हीं रूपों का सहारा लिया गया। उदाहरण के लिए निम्नलिखित लोकोक्ति विशेष उल्लेखनीय है, ''मोदी चेचू लो दोमिक पापुम गू दोरिया माबअ का

इसी चेचू लो सअपिक तापु गू दोरिया माबअ का।''

अर्थात घाटियों के तंग इलाकों में एकत्रित बादलों की तरह मत बनना और न ही नदी किनारे अवरुद्ध पानी में तैरते फेन की तरह बनना।

इस लोकोक्ति का प्रयोग खासकर पंचायत तथा विवाह आदि सभाओं में किया जाता है। जब गाँव के दो गुटों में किसी मसले को लेकर वाद-विवाद होते हैं तो ऐसे मौकों पर इस लोकोक्ति का प्रयोग किया जाता है। बातचीत के आरंभ में ही इस लोकोक्ति के माध्यम से दोनों पक्ष एक-दूसरे से यह आग्रह करते हैं कि हम बिना किसी छिपाव या दुराव के अपनी-अपनी बातें रखेंगे। घाटी में एकत्रित बादलों की तरह और ठहरे हुए पानी के किनारे तैरते झाग की तरह हम भी मन के किसी भी कोने में कोई बात छिपाकर नहीं रखेंगे। अतः हम नितांत निश्छल मन के साथ स्पष्ट वक्ता बनकर इस मसले को सुलझाने की कोशिश करेंगे।

इस लोकोक्ति का निर्माण जीवन की यथार्थ अनुभूति एवं प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण से हुआ है। अपनी जीविका के लिए पहाड़ों एवं नदियों में विचरण करते वक्त आदिम मानवों ने प्रकृति के इन उपादानों को कई बार देखा। जैसे घाटी में बादलों का अधिक मंडराना एवं अवरुद्ध पानी के किनारे एकत्रित झागों का वे नित्य साक्षात दर्शन करते थे। जीविकोपार्जन के लिए जंगल, पर्वत और नदियों में विचरण करना इन लोगों के दैनिक जीवन का अंग था। अतः किसी ज्ञानी व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रकृति की इन नियमित घटनाओं ने विचार को आंदोलित किया और यह 'मोदी चेचू' के 'हापम' तथा ड़इसी 'चेचू' की 'सअपिक' संकीर्णता और निकृष्टता का प्रतीक बनकर उभरा। इसी कोटि की और लोकोक्ति निम्नलिखित है।

''इयेबु तअमुम आ इयोदि कालिम तअगाम
अ दअरी दूनअ
सअरा रिड़का ड़ा जिपि कालिन तअगाम
अ दअरी दूनअ।''

अर्थात जिस प्रकार जीवित मछलियों को पानी से बाहर निकालना अत्यंत कठिन कार्य है उसी प्रकार किसी परायी स्त्री को अपनी दुल्हन बनाकर गृहस्वामिनी बनाना भी दुष्कर कार्य है। यह लोकोक्ति भी विशुद्ध जीवन-अनुभव तथा निरीक्षण से निर्मित है। जंगली पशुओं का शिकार करने के साथ-साथ मछलियाँ पकड़ना भी जनजातीय लोगों के दैनिक कार्यों में से एक है। पानी में तैरती मछलियाँ आसानी से पकड़ में नहीं आतीं। उसके लिए विभिन्न प्रकार के तरीकों एवं शारीरिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है। वे इस अनुभव से रोज गुजरते हैं। इसी अनुभव से उत्पन्न हुई है यह लोकोक्ति। जितना श्रम मछली पकड़ने में इन लोगों को करना पड़ता था, विवाह रचाने में भी उतने ही श्रम की आवश्यकता होती है। पारंपरिक विवाह रचाना तो और भी कठिन कार्य है। विवाह का आयोजन करना, मिथुन एवं आतिरिक्त आभूषणों का बंदोबस्त करना, रिश्तेदारों को भोज में बुलाना, विवाह समारोह को संपन्न कराने वाले धर्मगुरु को उनकी बख्शीश देना इत्यादि की व्यवस्था करना हर किसी के बस की बात नहीं। इसके लिए अतिरिक्त समय, ऊर्जा और धन की आवश्यकता होती है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए संभव नहीं। संभवतः इसीलिए आज की तारीख में पारपारिक विवाह का प्रचलन बहुत कम हो गया है। यह केवल कुछ अमीर लोगों के शौर्य प्रदर्शन का माध्यम जैसा लगने लगा है। जिनके पास धन की कोई कमी नहीं है वही लोग अपने बच्चों का पारंपरिक विवाह करवा सकते हैं। साधारण लोगों के मन, इच्छा होने के बावजूद शादी में होने वाले खर्च का अनुमान लगाकर हतोत्साहित हो जाते हैं।

तागिन लोक साहित्य में युवतियों की तुलना मछलियों से ही की गयी है। मछलियाँ और अविवाहित लड़कियाँ बिना किसी लोक-चिंता के अपने-अपने आंगन में स्वतंत्र होकर पलती-बढ़ती हैं। दोनों ही स्वभाव में बहुत चंचल होती हैं, इसलिए दोनों हासिल करना आसान काम नहीं है। एक के लिए कई प्रकार के सामाजिक और सांस्कृतिक रिवाजों तथा प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है तो दूसरे के लिए शारीरिक बल के साथ-साथ भिन्न-भिन्न जाल बिछाने पड़ते हैं। अतः इस लोकोक्ति के निर्माण में भी बीज रूप मछली पकड़ने की अनुभूति है जो आदिम लोगों की दिनचर्या का एक अभिन्न हिस्सा है।

(घ) सरलता :- लोकोक्तियों की चौथी बड़ी विशेषता है इनकी सरलता। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार, ''ये लोकोक्तियाँ बड़ी सरल भाषा में निबद्ध हैं जिसे सुनते ही इनका अर्थ हृदयंगम हो जाता है। इनकी यही सरलता इनसे अतिशय प्रभाव उत्पन्न करने का कारण है।''[6] तागिन की लोकोक्तियों की शब्दावली अत्यंत सरल होती है। जीवन की वास्तविक घटनाओं से संबंध्य होने के कारण इन लोकोक्तियों में शब्दाडंबर के लिए कहीं भी स्थान नहीं होता। तागिन लोकोक्तियों में उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो तागिन लोक-जीवन में सामान्यतः व्यवहृत होते हैं। इसीलिए इन लोकोक्तियों को सुनते ही अर्थ की प्रतीति में कोई कठिनाई नहीं होती। इसी सरलता के कारण श्रोता के मर्म तक अपनी गहरी छाप छोड़ जाने में तागिन लोकोक्तियाँ अत्यंत सक्षम हैं।

तागिन लोकोक्तियों में पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, पहाड़ एवं नदियों का भरपूर प्रयोग हुआ है। प्रकृति के उपादानों के बिना शायद ही कोई लोकोक्ति बन पाये। ये वही प्राकृतिक संपदा है जिसके साथ आये दिन तागिन लोगों का साक्षात्कार होता रहता है। प्रकृति के अत्यधिक निकट होने के कारण ही वे उन शब्दावलियों से चिर-परिचित होते हैं जो लोकोक्तियों में प्रयुक्त होती हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित लोकोक्ति को हम देख सकते हैं।

''दोतअ कामा बअ कारबो बोकला मा
सअची कामा बअ नसिन बोकला मा।''

अर्थात आसमान के बिना तारे नहीं निकल सकते, धरा के बिना पेड़-पौधे नहीं उग सकते। जिस प्रकार तारागण और पेड़-पौधों का अस्तित्व आसमान और धरती पर आश्रित है उसी प्रकार माता-पिता पर ही उनके बच्चे आश्रित रहते हैं। अतः माता-पिता के बिना बच्चों का जीवन अधूरा है। इस लोकोक्ति में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उसे बच्चा-बच्चा भी बड़ी आसानी से समझ सकता है। इसमें शब्दाडंबर नगण्य है। दोतअ (अम्बर), कारबो (तारागण), सअची (धरती) तथा नसिन (वनस्पतियाँ) आदि ऐसे शब्द हैं जिसकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि इन शब्दों से तागिन समाज का कोई भी व्यक्ति अनभिज्ञ नहीं है।

लोकोक्तियों में सरलता का होना कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अनपढ़-गँवार और आदिम मानवों द्वारा निर्मित होने के कारण वे बाड़ और आंतरिक जगत की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती हैं। डॉ. श्रीराम शर्मा के अनुसार, ''उसके प्रतिदिन के अनुभवों की सरस और सारपूर्ण अभिव्यक्ति ही लोकोक्ति है।''[7] इन लोकोक्तियों की निर्माण-प्रक्रिया में बलात प्रयास के लिए कहीं अवकाश नहीं, क्योंकि इतना तो हम कह सकते हैं कि आदिम लोगों ने लोकोक्तियों को गढ़ने की कोशिश नहीं की होगी। उन्होंने जीवन की किन्हीं परिस्थितियों में जिन-लोकोक्तियों का निर्माण किया है वे अनायास ही उनके हृदय से अवतरित होकर कंठ से फूटी होंगी। जीवन-सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों का प्रयोग इन लोकोक्तियों में हुआ है वह भी सहज-स्वाभाविक के साथ-साथ सरल हो गया है। हिंदी साहित्य में महात्मा कबीर ऐसे रचनाकार शीर्ष स्तंभ हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में कभी शब्दों को गढ़ने की बलात कोशिश नहीं की। अपनी अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने जनमानस में प्रयुक्त शब्दों को ही चुना। इसी कारण उनके वचन जीवन के अत्यधिक निकट हैं। उसी प्रकार तागिन लोकोक्तियों के निमार्ताओं ने भी लोक-जीवन में प्रयुक्त शब्दावलियों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। जन-जीवन के करीब होने से इन लोकोक्तियों को समझने में सरलता का अनुभव होता है, क्लिष्टता का नहीं। प्रमाण के लिए एक और उदाहरण नीचे दिया जा रहा है-

''आनअ कामा बअ आला पतक अ रकिक रक्योक ला।''

अर्थात बिना ठोस वस्तु के जल से आधा भरा पतक (बाँस का बना गगरी नूमा पानी भरने का औजार) ज्यादा आवाज करता है। यह लोकोक्ति उन लोगों को लक्ष्य करके निर्मित हुई है जिनकी वाणी तो बहुत चलती है परंतु उनके मस्तिष्क में ज्ञान शून्य के बराबर है। यह लोकोक्ति हिंदी लोकोक्ति 'अधजल गगरी छलकत जाए' का पर्याय जैसा है। जिस प्रसंग के आधार पर ये दोनों लोकोक्तियाँ निर्मित हुई हैं, वह प्रसंग भी एक ही है। इस हिंदी लोकोक्ति के जन्म के संबंध में डॉ. कन्हैयालाल सहगल ने सारगर्भित तर्क दिया है जिसका उल्लेख डॉ. श्रीराम शर्मा ने किया है, यथा, ''जो घड़ा पूरा भरा नहीं होता, वह कुछ छलकता है और उसके छलकने से कुछ आवाज होती है। इसके विरुद्ध जो पूरा भरा होता है, वह न छलकता है और न उसमें से कोई आवाज होती है। पानी का घड़ा लेकर आती हुई स्त्रियों के संबंध में यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है, किंतु यह तो मात्र नेत्रानुभव है। न जाने कितने लोग इस दृश्य को देखते हैं किंतु किसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया उनमें नहीं होती, किंतु किसी दिन किसी विचारशील व्यक्ति के मन में यह दृश्य उस व्यक्ति का चित्र खड़ा कर देता है जो बोलता बहुत है किंतु जिसका ज्ञान अधकचरा है, जिसकी विद्या अधूरी है। ऐसी स्थिति में नेत्रानुभव मन के अनुभव के रूप में परिणत हो जाता है और उसके मुख से सहसा निकल पड़ता है, ''अधजल गगरी छलकत जाय।''[8] इसी प्रसंग के समान तागिन समाज में भी घरेलू-कामकाज स्त्रियों की जिम्मेदारी होती है और उन जिम्मेदारियों में से एक है 'पतक' में पानी भरकर लाना। पतक में पानी भरकर लाना गाँवों के दिन-प्रतिदिन का अनुभव है। असंख्य लोग इसको देखते हैं किंतु किसी के मन में कोई प्रतिक्रिया नहीं जगती है। लेकिन एक अनुभवशील व्यक्ति ने व्यर्थ की बात करने वाले किसी व्यक्ति पर व्यंग्य करते हुए कहा होगा,

'आनअ कामा बअ आला पतक अ रकिक रक्योक ला।'

अतः हम कह सकते हैं कि तागिन जनजाति में प्रचलित यह लोकोक्तियाँ निस्संदेह एक अमूल्य धरोहर हैं जिसका संरक्षण एवं संवर्द्धन अत्यंत आवश्यक हो गया है। ये लोकोक्तियां बिहारी के दोहे के समान हैं जो 'देखन में छोटे लगै घाव करैं गम्भीर'। इन्हीं लोकोक्तियों ने पूर्व के कितनी पीढ़ियों को ज्ञान और विवेक का पाठ पढ़ाया है। 'मसि कागद छुओ नहीं कलम गहि नहिं हाथ' वाले हमारे पूर्वजों को जब पोथी-ज्ञान से कोई सरोकार नहीं था, इन्हीं लोक सुभाषितों ने उनके ज्ञान चक्षुओं को खोले रखा और हर आगामी पीढ़ी का मार्ग भी प्रशस्त किया। दैनिक जीवन के अनुभवों से उपजी यह लोकोक्तियाँ न जाने कितनी सदियों से, परंपरागत रूप से प्रवाहमान हैं, जो आज भी अपने ठेठ रूप में जन-जन की वाणियों में व्याप्त हैं। लेकिन हम इस तथ्य को भी नहीं झुठला सकते कि आधुनिकता के रंग में रंगकर 'लोक' के सभी रंग शनैः शनैः धूसित होते जा रहे हैं। अतएव लोकोक्तियों का प्रचलन भी धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा है। मेरे और आगामी पीढ़ी के लोगों को हिंदी और अंग्रेजी बोलने से फुर्सत नहीं तो ऐसे 'क्लासिक भाषा' के लिए अवकाश ही कहां ? आधुनिकीकरण के मोह-पाश में उलझे आज की पीढ़ी ऐसी मौखिक परंपरा से वंचित होता जा रहा है। अतः विलुप्त हो रही इस धरोहर को लिखित या अन्य किसी भी रूप में संरक्षित रखना अत्यंत आवश्यक हो गया है।

संदर्भ

1. डॉ. सत्येन्द्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृ. 368
2. Mr. Abe Marde, Er. Rokbo, Dabu Lew. Tamin, Mr. A.V. Krishnamurthyiyer. Kuryum Nyitin P. 17
3. धीरेन्द्र वर्मा, हिदी साहित्य कोश, पारिभाषिक शब्दावली (भाग-1), पृ. 498
4. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 152
5. डॉ. श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य : सिद्धांत और प्रयोग, पृ. 152
6. डॉ. श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य : सिद्धांत और प्रयोग, पृ. 157
7. डॉ. श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य : सिद्धांत और प्रयोग, पृ. 152
8. डॉ. श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य : सिद्धांत और प्रयोग, पृ. 153

संपर्क : सहायक प्राध्यापक
दोञ्मी-पोलो, शासकीय महाविद्यालय, कामकी वैस्ट
सियाङ, जि. : ओलो, अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश के आदी जनजातीय लोकगीतों में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन

बनश्री पर्तिन

लोक साहित्य पर जब भी हम विचार करते हैं, तो सर्वप्रथम लोकगीत का नाम आता है। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि यह जनजीवन में अपनी प्रचुरता एवं व्यापकता के कारण लोकसाहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय शाखा है। लोकगीत मनुष्य के विकास की गाथा है। समाज के हरेक पहलू का निदर्शन लोकगीतों के माध्यम से बड़ी ही सरलता से हो जाता है। लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सहज स्वाभाविकता एवं सरलता होती है। इनमें सुख-दुख, प्रेम-करुणा आदि के विविध रंग समाए हुए होते हैं। लोक का समस्त जीवन लोकगीतों के माध्यम से ही हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। शिशु के प्रथम क्रन्दन से लेकर मृत्यु तक के सारे भावचित्र इनमें दिखाई देते हैं। जो स्वतः उद्भूत होते हैं वही लोकगीत हैं। इनमें कोई कृत्रिमता का आभास तक नही होता। आदी जनजातीय समाज में लोकगीतों की परंपरा सदियों से मौखिक रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। जन्म से लेकर मृत्यु तक बहुत सारे संस्कारों का पालन आदी समाज प्रारंभिक समय से करता आ रहा है। जितने प्रकार के संस्कार निभाए जाते हैं, उतने ही प्रकार के उन संस्कारों से जुड़े लोकगीत भी गाये जाते हैं। लोकगीतों का गायन पर्वों एवं त्योहारों में सबसे अधिक किया जाता है।

अरुणाचल प्रदेश की छब्बीस प्रमुख जनजातियों में आदी जनजाति का भी नाम लिया जाता है। आदी जनजाति मुख्य रूप से सियाड़, अपर सियाड़, ईस्ट सियाड़, लोवर दिबांग वैली, लोहित आदि जिलों मे निवास करती है। न्यीशी जनजाति के बाद दूसरी सबसे बड़ी आबादी वाली जनजाति के रूप में आदी जनजाति का नाम आता है। आदी जनजातीय समाज पुरुष प्रधान समाज होता है। परिवार का मुखिया प्रायः पुरुष ही होता है। विभिन्न संस्कृतियों की धनी यह जनजाति लोक साहित्य के रूप में भी बहुत सारे खजानों को अपने में समेटे हुए है। आदी समाज में लोकगीत प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इनके जीवन में इन लोकगीतों का बहुत महत्व होता है। इन लोकगीतों के अभाव में कोई भी उत्सव या संस्कारादि पूर्ण नहीं माने जा सकते हैं। इन लोकगीतों में आदी समाज से जुड़े विविध पहलू, यथा- लोक-संस्कृति, लोकविश्वास, रीति-रिवाज, परंपराएँ आदि देखने को मिलते हैं। इन लोकगीतों में आदी जनजीवन के प्रत्येक पक्ष के प्रत्यक्षतः दर्शन होते हैं। यहाँ आदी लोकगीतों के माध्यम से आदी जनजीवन जीवन से जुड़े कुछ आवश्यक पहलुओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा-

1. आदी लोकगीतों में चित्रित सामाजिक मूल्य-

आदी लोकगीतों में जनजीवन से जुड़े जीवन मूल्यों की स्पष्ट एवं सुंदर अभिव्यंजना हुई है। अपने रीति-रिवाजों, परंपराओं एवं संस्कृति के साथ-साथ ये अपने भीतर मानवीय मूल्यों को भी बचाकर रखे हुए हैं। उदाहरण के तौर पर एक आदी लोकगीत द्रष्टव्य है-

''कामपोलोक दोमाड़,
कात्रीने दिकमाड़
आरो दे आपि आड़े।''

इस लोकगीत का भाव कुछ इस प्रकार है- 'संसार में सुंदरता से किसी का भी पेट नहीं भरा है, न ही बदसूरती के कारण कोई मरता है। पेट भरने के लिए मेहनत की आवश्यकता होती है न कि सुंदरता की। सत्य तो यह है कि मन सुंदर हो, यही आवश्यक हैं।' वर्तमान संदर्भ में आधुनिकीकरण के चलते इस गीत का महत्व कुछ कम जरूर हो गया है। जो दिखता है वही बिकता है- यही आज का नारा है। आज की बाजारवादी स्थिति यही है कि जो सुंदर है, वही सब कुछ है। यह बात मूर्त और अमूर्त सभी चीजों पर लागू होती है। सुंदरता को लेकर सामाजिक मानदंड बदल गए हैं। आज के युग में वही सुंदर कहे जाते हैं, जो शारीरिक रूप से आकर्षक हों। बहुत सारे क्षेत्रों में शारीरिक रूप से सुंदर लोगों को ही प्राथमिकता दी जाती है। जैसे एक्टिंग, एड कम्पनी, सौंदर्य प्रतियोगिता, टी. वी. एंकरिंग जैसे बहुत सारे क्षेत्रों में शारीरिक सुंदरता ही पहली शर्त होती है। परंतु सच्चाई यही है कि शरीर की सुंदरता समय के साथ क्षीण हो जाती है, वहीं आत्मा की सुंदरता ताउम्र बनी रहती है।

एक और लोकगीत है जिसमें समय की महत्ता को दर्शाया गया है। उचित समय में कार्य को करने वाला ही जीवन में आगे बढ़ता है, यही इसका मूल भाव है। समय किसी के लिए नहीं रुकता है और न ही समय को कोई मात दे पाया है। घड़ी की सुई जैसे-जैसे आगे सरकती है, उसी गति से इंसान की आयु भी आगे बढ़ती है। मनुष्य अपनी उम्र को बढ़ने से न रोक सकते हैं और न ही अपनी मृत्यु को ही टाल सकते हैं। निम्नलिखित आदी लोकगीत में इस भाव को देख सकते हैं-

"मिजिड़े एजोअ मोनबोम दुड़, बेदाड़े दुक्गे को कामाड़।
लाक्के दानेम कासुतो मिमुमे, पूमूअ बितबोम दुड़।
लाक्बिक दानेम कासुतो यामेये, एरागे राकबोम दुड़।"

प्रस्तुत लोकगीत का भाव कुछ इस प्रकार है- 'बुढ़ापा अपने आगोश में पकड़ने हेतु मनुष्य को भगा रहा है, परंतु उससे दूर भागने के लिए रास्ते दिखाई नहीं पड़ रहा है।

बायीं तरफ देखो तो नवयुवतियों की बाढ़ सी आ रही है और दायीं तरफ देखो तो नवयुवकों का भूस्खलन सा ढहता हुआ दिखाई दे रहा है। अर्थात बुढ़ापे को टालना हर हाल में संभव नहीं है। अपने ही आंखों से जिन्हें छोटे शिशु के रूप मे देखा था, वहीं अब जवान नवयुवक तथा नवयुवती के रूप में हमारे समक्ष खड़े हैं। आयु का बढ़ना प्राकृतिक प्रक्रिया है, जिसे टाला नहीं जा सकता। इसलिए समय रहते कार्य को करने मे ही जीवन की सार्थकता निहित है।'

2. आदी लोकगीतों में चित्रित आर्थिक जीवन-

विश्व के सभी समाजों में प्रायः सामाजिक असमानता देखने को मिलती है। सामाजिक असमानता से यहाँ तात्पर्य आर्थिक असमानता से है। आदी समाज में भी यह आर्थिक असमानता देखने को मिलती है, जो लोकगीतों के द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है। वर्तमान मे आर्थिक असमानता एक विकराल दैत्य की तरह अपने पाँव पसारे खड़ी है। आदी समाज में अमीरी और गरीबी के बीच की जो खाई है, उसे पाटना शायद कभी संभव ही न हो। अमीर इतने अमीर होते हैं कि गोदाम में बहुतायत मे रखे हुए अनाज तितली में परिवर्तित हो जाते है। अर्थात कुछ लोगों के पास इतना अनाज होता है कि तीन-चार सालों में भी खत्म नहीं होता है। वहीं कुछ लोग इतने गरीब होते हैं कि भोजन बनाने के लिए टिन के डब्बे से जब चावल निकालते हैं तो इतनी सावधानी बरतते हैं कि खाली डब्बे की आवाज लोगों को सुनाई न पड़े। आदी लोकगीत में एक लड़की अपनी और उनकी सहेली की इसी आर्थिक असमानता का वर्णन कर रही है-

"मामोअ दोरजी मामोअ, आड़ड़ ड़ञीम लुक्केप को ओम्बी।
आड़ड़ केदेम गेनाये, मुरकोड़म गेनाये, मिरेम ओमे केदेम।
ड़क्के देम गेनाये, ओपान ओमे के देम बीरी तीतुड़म गेनाये।"

प्रस्तुत लोकगीत का भाव कुछ इस प्रकार है कि 'हे! कपड़े सिलने वाली दर्जी काकी, मुझे और मेरी सहेली के कपड़ों में जेबें सिल दें। मेरी सहेली धनी घर की बेटी है, इसलिए वह उन जेबों में अपने धन को रखेगी। परंतु मैं निर्धन की बेटी हूँ, इसलिए अपनी जेबों में पीये हुए बीड़ी के टुकड़े को सहेजकर रखूँगी। क्योंकि निर्धन के लिए एक बीड़ी का टुकड़ा भी मूल्यवान ही होता है।' तुच्छ सी जूठी बीड़ी को भी सहेजकर रखने का यहाँ वर्णन किया गया है, आमतौर पर जिसको फेंका जाता है। छोटी-छोटी अनावश्यक चीजों को भी समेटकर रखना गरीब व्यक्ति के ही लक्षण हैं। एक ओर आदी लोकगीत में इस आर्थिक असमानता का बहुत ही मार्मिक वर्णन देखने को मिलता है, जो इस प्रकार है-

''गे आड़ड़ बुलुके कोगेम काबोड़ तोनामे,
मिरेमे कोगेम काबोड़ तोनामे, लेकु बारबाड़ कुप्तेम-कुप्लेम।
हो.........होई.........।
आड़ड़ ड़ेलुके ओपाने कोगेम काबोड़े तोनामे
ञोसुगे ञोरूगे कुप्तेम कुप्लेम।
हो.........होई........।''

भाव कुछ इस प्रकार है- 'आदी घर बाँस से निर्मित होते हैं जो चबूतरे पर बने होते हैं, इन बाँस से बने घरों के झरोंखे से घर के भीतर रोशनी पहुँचती है। प्रस्तुत लोकगीत में एक मित्र इन्हीं झरोखों से जब अपने धनवान मित्र के घर के नीचे झाँककर देखता है, तो बहुमूल्य धातुओं से बने बर्तन एवं अन्य बहुमूल्य सामान एक के ऊपर एक पड़े हुए दिखाई देते हैं वहीं गरीब मित्र अपने घर के नीचे जब झाँककर देखता है तो पुराने तोको के पत्ते, जिनका उपयोग भोजन खाने वाले थाल के रूप में करते हैं, एक के ऊपर एक बिखरे पड़े हैं।' अर्थात अमीरों के यहाँ बहुमूल्य वस्तुएँ और गरीबों के यहाँ बेकार चीजें पड़ी हुई होती हैं, जिनका कोई मोल नहीं। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि आदी समाज में बहुमूल्य वस्तुओं को घर के नीचे जमीन मे गाड़कर रखने की प्रथा है, जो कि अमीरों के घरों मे ही पाई जाती है।

3. प्रकृति से संबंधित गीतों में लोकजीवन-

मनुष्य एवं प्रकृति का संबंध जन्म-जन्मांतर का होता है। संसार के सभी प्राणी प्रकृति से ही जन्मे हैं। हर ऋतु में खुद को ढालना मनुष्य का स्वभाव है। अलग-अलग ऋतुओं के साथ मनुष्य की संवेदना जुड़ी हुई होती है। विभिन्न ऋतुओं में उससे जुड़े हृदय के उद्गार लोकगीत के माध्यम से प्रकट होते हैं। बदलती ऋतुओं के साथ-साथ अलग-अलग धुनों पर विभिन्न प्रकार के गीत होठों पर अनायास ही आ जाते हैं। आदी जनजाति के लोग सदा से प्रकृति-पूजक और प्रकृति-प्रेमी रहे हैं। इनके जीवन का आधार ही प्रकृति है। इसी कारण प्रकृति से जुड़े बहुत सारे लोकगीत आदी में पाये जाते हैं। यहाँ वर्षा ऋतु से संबंधित एक आदी लोकगीत द्रष्टव्य है-

''लोबो दोदिड़, रोगो पित्चाप पिल्लाप,
ऐमे देम मुतकितो दोरमाड़।''

भाव यह है कि बारिश के दिनों में जब अत्यधिक वर्षा हो रही होती है, तो मनुष्य को अत्यधिक तकलीफों का सामना करना पड़ता है। परंतु जो अन्य पशु-पक्षी हैं, उनका जीवन और भी दयनीय होता है। उन्हें कई मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। ऐसे में मुर्गियों के चूजे भी इधर-उधर पीं-पीं की आवाज लगाते सुरक्षित खड़े होने का स्थान ढूंढ़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। जलाने के लिए जो लकड़ियां हैं वे भी अत्यधिक वर्षा के कारण पूरी तरह भीग गई हैं और फूँक-फूँककर जलाने के प्रयास में रह-रहकर फिर बुझ जाती हैं। उस सुलगती हुई आग के कारण पूरे घर भर में धुँआ भर जाता है।

अरुणाचल प्रदेश के जंगलों में घास-फूस, जड़ी-बूटी एवं पेड़-पौधों की भरमार है। उनमें से कुछ कांटेदार तो कुछ जहरीली होती हैं। बिच्छू बूटी नामक जंगली पौधों की कई प्रजातियाँ अरुणाचल के जंगलों में पायी जाती हैं। इन्हें गलती से छू लेने पर शरीर के उस विशेष स्थान में खुजली एवं जलन होने लगती है। कुछ बिच्छू बूटियाँ इतनी खतरनाक होती हैं कि उनके स्पर्श भर से भी मनुष्य की मृत्यु तक हो जाती है। एक आदी लोकगीत में इस बिच्छू बूटी का बहुत ही मजेदार ढंग से वर्णन हुआ है-

''नाने ड़ञी गोयेड़ गोयेड़, मोड़गु बेलो गोयेड़ गोयेड़
एनबो सुने गोयेड़ गोयेड़, नाने मे गोयेड़ गोयेड़
मोड़गु पेजीए गोयेड़ गोयेड़, पेतेक तोनामे गोयेड़ गोयेड़

नाने कापदा कापदा गोयेड़ गोयेड़, यायी रीदा रीदा गोयेड़ गोयेड़
यायी ड़ोञी गोयेड़ गोयेड़, आदी तेलो गोयेड़ गोयेड़
यायी मे गोयेड़ गोयेड़, आदी पेजीए गोयेड़ गोयेड़
पेतेक तोनामे गोयेड़ गोयेड़, यायी कापदा कापदा गोयेड़ गोयेड़
नाने रीदा रीदा गोयेड़ गोयेड़, आड़ड़ नो दोयी तोतेक नो दोयी
तोड़ड़ नो दोयी तोतेक नो दोयी, कोजुमे बोगुए दुलेड़ को तेलो।''

इस लोकगीत में जो भावार्थ है वह इस प्रकार है- 'एक बार एक पहाड़ी दंपति घूमने हेतु मैदानी इलाके में जाते हैं। वहाँ घूमते-घूमते अनजाने में पत्नी का हाथ गलती से बिच्छू बूटी को छू लेता है। फिर जलन और खुजली के मारे वह जोर-जोर से रोने लगती है। उनकी पीड़ा को देखकर पति भी उनके साथ जोर-जोर से रोने लगता है। फिर दोनों दंपति पहाड़ों पर चले जाते हैं, लेकिन अबकी बार वहाँ पति के शरीर में बिच्छू बूटी का स्पर्श लग जाता है और वह जोर-जोर से रोने लगता है। फिर इस दर्द को महसूस कर चुकी पत्नी भी उसके साथ जोर-जोर से रोने लगती है। बिच्छू बूटी के लगने से दोनों का रोना यहाँ हास्यास्पद भी लगता है। परंतु ये भी सच है कि बिच्छू बूटी के स्पर्श से जो पीड़ा होती है वह असहनीय होती है।

4. बालगीतों में चित्रित सामाजिक जीवन-

बालकों से जुड़े हुए गीतों को ही हम बाल गीत कहते हैं। इस प्रकार के गीतों में बाल मनोविज्ञान, बाल-व्यवहार, बाल चेष्टाएँ आदि विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। बच्चे खेलते समय या पर्व-त्योहारों में इन गीतों को गाकर खुशी से झूम उठते हैं। माता-पिता अपने बच्चों को इस प्रकार आनंदित देखकर फूले नहीं समाते। बच्चे बिना अर्थ की गहराइयों में जाये जो मन में आता है, उसको गाते जाते हैं। परिणामस्वरूप इस प्रकार के कुछ गीत अर्थ युक्त होते हैं तो कुछ अर्थहीन। एक लोकगीत द्रष्टव्य है-

''ओ योयोलो ओ ओई,
आसी तापा पायोड़े पायोड़,
गे राको रामोती।''

आसी तापा का अर्थ आदी बोली में 'कद्दू' होता है। इस बालगीत का कोई विशेष अर्थ तो नही है, पर यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि मातृत्व गुण लड़कियों में स्वभाविक रुप से होता है। छोटी-छोटी लड़कियाँ कद्दू के फल को बच्चे की तरह पीठ पर लादकर खेल-खेल में इस गीत को गाती हैं। गुड्डे-गुड़ियों के रूप में बाँस या लकड़ी से बनी हुई गुड़ियाँ, जंगली फूल-पत्ते एवं फलों से ही बच्चे खेलते थे।

बच्चे बहुत ही भोले और नादान होते हैं। वे प्रायः सपनों की दुनिया में गोते लगाते हैं। कभी काल्पनिक भूत-प्रेतों की बातें करते हैं तो कभी जादुई शक्तियों पर विश्वास कर लेते हैं। इसी भोलेपन के साथ एक अन्य गीत में बच्चे चन्द्रमा से सुई की माँग कर रहे हैं। पूरा गीत संवाद शैली में गाया जाता है-

''पोलोअ कोलो पेसी को कोलो,
पेसी देम कापे इयेनेदा? पेसी देम ञच्गोन ओमनाये,
ञच्गोन देम कापे इयेनेदा? ञच्गोन देम आबाल मेकेनाये,
आबाल देम कापे इयेनेदा? आबाल देम सीता को रेनाये,
सीता देम कापे इयेनेदा? सीता देम तानी आमोड़ काड़ड़ नाये।''

इस गीत के भाव कुछ इस प्रकार हैं- बच्चे चन्द्रमा से विनती करते हैं कि हे! चन्द्रमा, मुझे एक सुई प्रदान करें। चन्द्रमा के पूछने पर कि तुम सुई का क्या करोगे ? बच्चे उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम उस सुई से एक थैली सीएंगे। फिर चन्द्रमा पूछते हैं कि तुम उस थैली का क्या करोगे ? बच्चे उत्तर में कहते हैं कि हम थैली में धन रखेंगे। चन्द्रमा फिर पूछते हैं कि धन का क्या करोगे ? बच्चे उत्तर देते हुए कहते हैं कि धन से हम एक हाथी खरीदेंगे और जब चन्द्रमा पूछते हैं कि हाथी का क्या करोगे तो अंत में बच्चे कहते हैं कि हाथी से पूरी दुनिया की सैर करेंगे। इस प्रकार चन्द्रमा एक-एक कर प्रश्न पूछते जाते हैं और बच्चे उसका उत्तर देते जाते हैं। इसी प्रकार का एक बालगीत असमिया में भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है-

''जोनबाई ए बेजी एटि दिया।
बेजीनो केलै? मोना सिबलै।
मोना नो केलै? धन भराबलै।
धन नो केलै? हाती किनिबलै।
हाती नो केलै?
हातीत उठि पानीराम घरलै याय,
आलिबाटर मानुहे घूरि धूरि चाय।''

निष्कर्षतः आदी लोकगीतों में जीवन की विविध झलकियाँ दिखाई देती हैं। आदी लोकगीत बहुत ही समृद्ध हैं। विभिन्न अवसरों पर उनसे जुड़े अलग-अलग गीत गाये जाने की परंपरा आदी समाज में दिखाई देती है। आवश्यकता है, तो बस इन्हें लिपिबद्ध करने की। वैसे भी बढ़ते आधुनिकीकरण के चलते धीरे-धीरे यह लुप्त होने की स्थिति में हैं। आज की युवा पीढ़ी लोकगीतों के बदले फिल्मी धुनों पर थिरकना अधिक पसंद करती है। मोबाइल, इंटरनेट, टेलीविजन आदि के जमाने में बच्चे भी खेलकूद एवं त्योहारों में कम दिलचस्पी रखते हैं। इसलिए लोकगीतों का संकलन और लिपिकरण करना बहुत ही ज्यादा आवश्यक हो गया है, तभी इनके अस्तित्व को बचाया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. लोकगीतों के संदर्भ और आयाम- डॉ. शान्ति जैन
2. लोक साहित्य की भूमिका- डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय
3. लोकसाहित्य के प्रतिमान- डॉ. कुन्दन लाल उप्रेती
4. आदी फॉक सोंग्स- आदुक तायेड़
5. मिलन रानी जामतिया, कॉकबराक कविता : एक अंतरयात्रा- (साभार : समन्वय पूर्वोत्तर)

श्रीमंत शंकरदेव के राम

मणि कुमार

रामकाव्य हमारे देश का राष्ट्रीय महाकाव्य है और राम इस देश के महानायक। इस महान चरित्र में वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक आदर्शों का अत्यंत भव्य रुप में प्रतिफलन हुआ है। रामकथा और रामकाव्य के नायक राम के व्यक्तित्व में कितनी ऐतिहासिकता और कितनी कवि कल्पना है, यह कहना बहुत कठिन है। परंतु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि वाल्मीकि के महाकाव्य 'रामायण' में सर्वप्रथम महामानव राम को लोकनायकत्व प्रदान किया। राम का जो गौरवपूर्ण चरित्र जगविख्यात है, उसका श्रेय महर्षि वाल्मीकि को ही है। उसके बाद रामकाव्य की परंपरा को जयदेव, कालिदास, कंबन, माधवकन्दली, तुलसीदास आदि अन्य कवियों ने आगे बढ़ाया। उन्होंने वाल्मीकि रामायण की ही कथावस्तु का अपनी-अपनी शैली में उपयोग कर रामोपख्यान प्रस्तुत किए। हिंदी और संस्कृत साहित्य की इस रामकाव्य परंपरा ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र को और भी अधिक व्यापक बनाया। राम कथा ने प्रत्येक कवि को प्रभावित किया है। इसलिए आज विश्व की लगभग प्रत्येक भाषा में रामकथा उपलब्ध है। विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रथम महाकाव्य सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य ग्रंथ प्रायः रामायण ही है। विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं कि, 'कविता रूपी स्त्री के लिए 'राम-नाम' वस्त्र के समान है।'

भारतीय साहित्य में अनादिकाल से ही राम और राम कथा का महत्व मान्य है। रामकथा का मूल स्रोत आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण है। विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं में उसी की कथा के आधार पर सैकड़ों रामायण लिखी गई हैं। आज भी रामकथा विषयक अनेक नई-नई रचनाएं विभिन्न भाषाओं में हो रही हैं।

मध्ययुगीन भारतीय भक्ति आंदोलन में रामकथा और रामचरित को सर्वथा नवीन गति मिली थी। फलस्वरुप राम के ईश्वरत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए अनेक रामायणों की रचनाएं विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में हुई। असमिया और हिंदी भाषाओं की रामकथात्मक रचनाओं का इतिहास मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन इतिहास से किंचित प्राचीन है।

श्री राम मर्यादा शीतल एवं धीरज के शिखर पुरुष कहे जा सकते हैं। एक सभ्य समाज को सदैव ही ऐसे व्यक्ति पसंद आते हैं जो हर प्रकार से लोक हितैषी हो। श्रीराम ऐसे ही लोक नायक हैं जो न केवल पौरुष सौंदर्य से भरपूर हैं बल्कि स्वाभिमान व जनहित के लिए एक समर्थ योद्धा भी हैं। श्रीराम को करुणानिधान भी कह कर पुकारा गया है, वह न केवल मानव जाति बल्कि संसार के सभी जीवों के प्रति करुणा का भाव रखते हैं। श्रीराम भगवान विष्णु के त्रेता युगीन अवतार माने जाते हैं। श्रीराम भारतीय समाज में इस तरह से व्याप्त हैं कि उनके बिना नैतिकता के समस्त मानदंड अधूरे हैं। श्रीराम का जो रूप जन-जन में लोकप्रिय है, उसे लोगों के अंतस मन में बसाने का काम भक्तिकाल के शिरोमणि कवि एवं असमिया समाज के महानायक महाकवि शंकरदेव ने बखूबी किया है। शंकरदेव ने अपने 'उत्तरकांड' और 'राम विजय' नाटक में प्रभु श्रीराम के अनेक रूपों का अपनी सरल एवं सरस भाषा में वर्णन कर, उन्हें जन-जन के हृदय में बसा दिया है।

असमिया के जन-जीवन में वैष्णव धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए शंकरदेव ने जिस विपुल साहित्य (नाटक) की सृष्टि की, उस साहित्य से भारतीय भक्ति आंदोलन के साथ असमिया समाज के हृदय का संपर्क अविछिन्न रूप से जोड़ दिया। शंकरदेव को असमिया नाट्य साहित्य का जनक माना जाता है। उन्होंने प्रभुत्व भ्रमण और अध्ययन की अभिज्ञता से इस विशेष नाट्य पद्धति का अविष्कार किया, जिससे न केवल पुनर्जागरण का प्रादुर्भाव हुआ, अपितु शंकरदेव के इन प्रयासों से पूर्णता प्राप्त की तथा भारत के सांस्कृतिक मानचित्र में असम को एक निश्चित स्थान प्राप्त हुआ, ''शंकरदेव ने न सिर्फ आधा दर्जन के लगभग नाटकों की रचना की और उनके मंचन का अभियान चलाया, बल्कि उसमें स्वयं भाग भी लिया। उन्होंने नाटक को अपने संदेश के प्रचार का माध्यम बनाया और जनजागरण का शंख फूँका।''

महाकवि शंकरदेव वैष्णव संत ही नहीं, अपितु गीत, संगीत, गायन, वादन, नृत्य, नाटक, अभिनय, चित्रकारी आदि विभिन्न ललित कलाओं के अनुपम शिल्पी भी थे। उन्होंने पाखंड, कर्मकांड, अंधविश्वास, जातिभेद, बलिप्रथा और वामाचार में खोए असमवासियों में धर्म की वास्तविक शुचिता, सहजता, करुणा आदि मानवीय गुणों से नवचेतना विकसित करने का क्रांतिकारी कार्य किया। श्री शंकरदेव की सोच की व्यापकता ही तो थी जो आज से पाँच सौ वर्ष पहले उन्होंने भारत को जोड़ने के लिए एक संपर्क भाषा की आवश्यकता को न केवल समझा, अपितु असमिया, मैथिली आदि भाषाओं को मिश्रित कर एक नई भाषा 'ब्रजबुलि' सृजित कर उसमें अनेक गीत और नाटक लिखे । उन्होंने सहज-सरल गीतों, नाटकों के माध्यम से जनसाधारण के समक्ष अध्यात्म के रहस्य को उद्घाटित किया।

कृष्ण काव्य के पश्चात शांकरी काव्य में विस्तार और उपलब्धि दोनों दृष्टि से सर्वाधिक महत्व राम काव्य का है। रामाख्यान संबंधी शंकरदेव की दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं- राम विजय (नाटक) और उत्तरकांड (रामायण)। 'मध्यकालीन हिंदी भक्तिकाव्य में प्रायः सांप्रदायिक संकीर्णता कमोबेश सभी भक्त कवियों में देखने को मिलती है। अपने आराध्य और अपने उपासना मार्ग के प्रति अत्यधिक निष्ठा और इसके सम्प्रदायों के प्रति निंदा एवं उपेक्षा का भाव

प्रायः आम बात है। लेकिन शंकरदेव इस अर्थ में विलक्षण हैं कि कृष्ण उपासक होने पर भी वे राम के बारे में भी लिखते हैं। ...शंकरदेव ने असम और पूर्वोत्तर में अकेले वह काम किया जो हिंदी क्षेत्र में रामानंद, वल्लभ, कबीर, सूर, तुलसी आदि के समन्वित प्रयास से संपन्न हुआ।'

रामायण की एक प्रसिद्ध घटना है, परशुराम पर राम की विजय, जिसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण के बालकांड और अग्निपुराण के पांचवें अध्याय में पाया जाता है। इस (राम-विजय) नाटक का यही स्रोत है। इस नाटक की कथा का मुख्य आधार वाल्मीकि की रामायण का अयोध्याकांड है। मारीच और सुबाहु नाम के दो राक्षसों का महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में बड़ा उपद्रव था। इसके कारण वे शांतिपूर्ण अपने धार्मिक अनुष्ठान और यज्ञ नहीं कर पाते थे। महर्षि ने अयोध्या नरेश दशरथ के पास जाकर सहायता के लिए राम-लक्ष्मण की माँग की। राजा दशरथ महर्षि की सहायता के लिए राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं। राम-लक्ष्मण राक्षसों का विनाश कर यज्ञ की रक्षा करते हैं। उसके पाश्चात महर्षि अपने साथ राम-लक्ष्मण को राजा जनक की सभा में लेकर जाते हैं जहाँ उनकी पुत्री सीता का स्वयंवर होने वाला है। देश के नाना स्थानों के कितने ही राजकुमार उस सभा में उपस्थित थे। स्वयंवर स्थान पर शिव का विशाल धनुष इस प्रतिज्ञा के साथ रखा गया था कि उपस्थित राजकुमारों में से जो भी इस धनुष पर प्रत्यंजा चढ़ा देगा वही सीता के लिए योग्य सिद्ध होगा।

एक-एक करके सभी एकत्र राजकुमारों का प्रयास असफल सिद्ध होता है। प्रत्यंचा चढ़ाना तो दूर कोई भी इस धनुष को अपनी जगह से हिला भी नहीं पाता है। फिर राम गुरु आज्ञा से इस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए जाते हैं। उन्हें इसमें कोई कठिनाई नहीं होती। उन्होंने धनुष को एक ही हाथ से उठा लिया और जैसे ही प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए धनुष को झुकाते हैं वो बीच से टूट जाता है। पहले सी ही यह दैवी भविष्यवाणी थी कि सीता का राम के साथ ही विवाह होगा और यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होती है। धनुष के भंग होने पर सीता ने आगे बढ़कर अपने राम के गले में माला डाल दी। सीता के रूप की प्रशंसा सूत्रधार द्वारा गाए जाने वाले एक उत्कृष्ट 'भातिमा' (भाटिमा) में की गई है-

''कनक शलाका अंगुलि करु शोक,
बन्दुलि निंद अधर करु कान्ति,
दाडिम्ब निविड विज दंत पांति,
इषत हासित मदन मोह जाइ,
नासा तिलफुल कमलिनि माइ,
नव यौवन तन बदरि प्रमाण,
उरु करिकर कटि डम्बरुक थान,
पद पंकज नव पल्लव भांति,
चंपक पाखरि अंगुलि करु कान्ति,
नखचय चारु चंद परकाश,
लहु लहु मत्त गज गमन विलास,
कत लखनु विहि निर्मल जानि,
कोकिलनाद अमिया झुरे वाणि ।''

राम की सफलता पर वहाँ एकत्र सभी राजकुमारों के लिए अत्यंत अपमानजनक थी। वे सब मिलकर राम पर आक्रमण कर देते हैं। राम के हाथों उन सभी को पराजित होना पड़ता है। विवाह के बाद राम और सीता अपने परिचारकगण के साथ अयोध्या के लिए चल पड़ते हैं। रास्ते में परशुराम उन पर हमला कर देते हैं, क्योंकि अपने स्वामी शिव के धनुष के तोड़ दिए जाने के कारण राम पर उन्हें बड़ा क्रोध था। यहाँ तक कि क्रोधवश उन्होंने अपने ही कंधों में दांत गड़ा दिए थे। नाटक में अत्यंत आवेगपूर्ण स्थिति की तीव्रता अत्यंत कटु और तीक्ष्ण संवादों द्वारा ही नहीं, सूत्रधार की वर्णात्मक वाणी द्वारा प्रकट किया गया है। राम के पिता राजा दशरथ की सारी अनुनय-विनय कि, ''माथे खेर धरो हामाक पुत्र दान देहु'' परशुराम के सामने बेकार गई। उनका क्रोध सातवें आसमान पर था। अंत में राम-परशुराम के बीच युद्ध होता है और परशुराम की हार होती है। राम परशुराम को यह दंड भी देते हैं कि तुम्हारे लिए स्वर्ग का रास्ता सदा के लिए बंद कर दिया गया है। ''विवेच्य नाटक में विश्वामित्र के साथ उनकी यज्ञ रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण का अयोध्या से जाना, राक्षसों का संहार, ऋषिमुख से सीता सौंदर्य की प्रसंशा, ऋषि के साथ राम-लक्ष्मण का जनकपुर जाना, धनुर्भंग, सीता-राम विवाह, परशुराम का क्रोध, परशुराम की राम से क्षमा याचना और उन्हें राम द्वारा अभयदान दिया जाना वर्णित है। कथावस्तु का आधार है-वाल्मीकि रामायण ही, पर कथा विवरणों में अनेक स्थलों पर पर्याप्त अंतर संभवतः नाटकीय दृष्टि से ही किए गए हैं।''

शंकरदेव के राम कैसे हैं? वे नीतिज्ञ हैं, गुणज हैं, प्रीति नीति दोनों को भली प्रकार निभाना जानते हैं। सेवक सखा बंधु प्रियजनों सभी के प्रति अपने व्यवहार में संतुलित एवं उदार हैं। उनका मन पूरी तरह उनके बस में है। वे धर्मज्ञ, सत्यव्रती प्रजा के हित में सदैव रत रहने वाले, यशस्वी, ज्ञान संपन्न, पवित्र भावों से युक्त, इंद्रियों को वश में और मन को एकाग्र रखने वाले हैं। महाकवि शंकरदेव ने नाटक के आरंभ में श्रीराम की वंदना करते हुए कहते है,

''यन्नामाखिल लोकशोकशमनं यन्नाम प्रमास्पदं,
पापापारपयोधी-तारण-विधी यन्नाम पीनल्पवः।
यन्नाम श्रवणात् पुनाति श्वपचः प्राप्नोति मोक्षं क्षितौ,
तं श्री राममहं महेश वरदं वन्दे सदा सादरम्।।''

जिसका (राम) नाम समस्त सांसारिक संतापों को दूर करने वाला, प्रेम का आस्पद तथा अपार पाप-सागर को पार करने के लिए विशाल नौका है। जिसके नाम-श्रवण से चांडाल भी पवित्र हो जाता है और पृथ्वी पर मोक्ष लाभ प्राप्त करता है। उन महेश वरद भगवान श्रीराम की मैं सदा सादर वंदना करता हूँ। महाकवि शंकरदेव श्रीराम की महिमा का बखान करते हुए उन्हें सदैव कल्याणकारी कहते हैं,

''येनाभाजि धनुः शिवस्य सहसा सीता समाश्वासिता,
येनाकारि पराभवो भृगुपतेव्यासक्त रामस्य च।
वैदेड़ा विधिवद्विवाहमकरोत् निर्जित्य यः पार्थिवान्,
युष्माकं वितनोतु शं हि भगवान् श्री रामचन्द्रशिचरम्।।''

जिन्होंने शिव का धनुष अकस्मात (अनायास) तोड़ डाला और सीता जी को आश्वस्त किया, जिन्होंने परशुराम को पराजित किया, जिन्होंने राजाओं को जीत कर सीता से

विधिपूर्वक विवाह किया, वे भगवान श्री रामचंद्र सदा आप लोगों का कल्याण करें।

महाकवि शंकरदेव 'राम विजय' नाटक में राम के सौंदर्य का विस्तार के साथ वर्णन करते हैं। उनके (राम) श्याम शरीर पर पीतांबर शोभायमान है, कमल के समान नेत्र हैं, मुख पर मंद हँसी है। मणिजणित मुकुट सिर पर विराजमान हैं और कानों में कुंडल पहने हुए हैं। गले में सोने का हार मणिमुक्ताओं से जड़े हुए ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानो आकाश में तारे चमक रहे हों। चरणों में मणि निर्मित मंजीर ध्वनित हो रही है,

'श्याम रुचिर चिर पीत परकाश।
पंकज नयन बयन मंदहास।
मर्णिमय मुकुट कुंडल गंडे डोले।
हेरि मुरुती मन मनमथ भोले।
माणिक मोति ज्योति हेमहारा।
गगन उजोरे जैचन रुचि तारा।
चरणक रंजि मंजिर मनि रोल।'

शंकरदेव राम के सौंदर्य वर्णन के उपरांत नाटककार सीता के सौंदर्य का वर्णन करते है। सीता के सिर पर माणिक्य मुकुट है, कानों में कुंडल है। दांतों की शोभा मोतियों की पंक्ति के समान दिखाई पड़ रही है। उनके मृदु हास्य से ज्योत्स्ना का सौंदर्य छिटक रहा है। सीता के रूप को देखकर सारा त्रिभुवन मोहित हो रहा है,

'माणिक मुकुट कुंडल करु कान्ति ।
दशम ओतिम नव मोतिम पांति।
इसत हासि चांदक रुचि छोर।
नील अलक लोचन चकोर।
कनक केयूर झनकक काय।
रामक चरण चित्तिये चित्ते लाइ।
पदपंकज मणि मंजिर रोल।
रूपे भूवन भूले शंकरे बोल।'

शंकरदेव के राम धीरोधत्त, प्रेमी, कर्तव्यनिष्ठ, आदर्श, आज्ञाकारी, वीर, धार्मिक, सत्य-निष्ठ, भातृप्रेम से परिपूर्ण हैं। शंकरदेव के राम ईश्वर होकर भी कर्मवीर मानव अधिक प्रतीत होते हैं। वे परशुराम को ललकारते हुए कहते हैं, 'अये ! दुष्ट द्विजाधम ! क्षत्रिय सब मारि तो हो गरब करैछ ? तोहार माता रेणुकाक काटिए पाप आचरण। सोहि कथा कहिया हामाक भीति देखाव ? रह-रह आजु तहु यमपुर देखब। यत शकति थिक हामाक समुख हुया रह।' श्रीराम के धनुष की टंकार सुनकर परशुराम विकंपित हो उठते हैं और उनके आगे झुककर प्रार्थना करते हैं, 'हे प्रभु श्रीराम, तुम परम ईश्वर, मैं तुम्हारा अंश हूँ। अनजाने मैंने दर्प किया। हमारे अपराध क्षमा कीजिए और हमें प्राण दान दीजिए।'

परशुराम को अभय दान देकर सीता सहित रामचंद्र अयोध्या लौटते हैं। भटिमा के माध्यम से शंकरदेव सीताराम की वंदना करते हैं। इस प्रकार भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है। धर्मदेव तिवारी लिखते हैं कि, 'लीला या रंगमंचीय नाटकों में भी राम आदि पात्र अपनी दिव्यता अलौकिकता को छोड़कर साधारण मानव बने हैं। राम का यह रूप 'राम विजय' के अतिरिक्त असमी नाटकों से प्राप्त नहीं होता है।' हेम बरुआ लिखते हैं कि, 'राम की यह विजय वस्तुतः शैव मत पर वैष्णव मत की प्रतीकात्मक विजय है।' साथ ही परशुराम के लिए स्वर्ग का रास्ता बंद होना संकेत है कि जो वैष्णव धर्म को नहीं मानेगा उसके लिए स्वर्ग का रास्ता हमेशा के लिए बंद हो जाएगा। इस तरह,'राम विजय' निर्भीकता और वीरतापूर्ण कृत्यों का, पापात्मा शक्तियों पर पुण्यात्मा शक्तियों की विजय का नाटक है। इस नाटक के केंद्र में राम हैं जो अपने आदर्श चरित्र, धीर प्रकृति और अतुल पराक्रम के लिए विख्यात है।

▲▲▲

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

असम के जनजातीय समाज में त्योहारों की प्रासंगिकता

डिम्पी बरगोहाई

व्यक्ति समष्टि से ही समाज निर्मित होता है। समाज अपनी गतिमयता में परंपरा और संस्कृति की विरासत को लेकर आगे बढ़ती है। साहित्य समाज का ही दर्पण है क्योंकि साहित्य में समाज ही दिखाई देता है। भारतवर्ष प्राचीनकाल से ही सभ्यता-संस्कृति के लिए विश्वविख्यात। उसी भारत का एक प्रांत असम भी सभ्यता-संस्कृति-परंपरा से परिपूर्ण है। विविध जाति-जनजाति, सभ्यता-संस्कृति की अनेक स्वरूप असम के सांस्कृतिक रुपरेखा की झलक है। भारत के पूर्वोत्तर में बसे हुए 'असम' भूमि बहुरंगीन संस्कृति की उपजीव्य है। जाति-जनजाति तथा लोकाचार-लोक परंपराओं के सम्मिलित स्वरूप ही असम के सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र की गतिमयता को सदा के लिए प्रवाहित करने की प्रेरणा बनी। अपने संस्कृति को स्वाभिमान मानते हुए परंपरागत जीवन-संस्कृति को सामाजिक जीवनादर्श में भलीभांति निभाती है। मनुष्य द्वारा निर्मित समाज में जहां व्यक्तिसमूह रीति-नीति, आचार-संहिताओं के प्रतिपालक हैं, वहीं समय-समय पर अपने जीवन की गतिशीलता को बनाए रखने के लिए सामूहिक रूप से पर्व-त्योहारों को मनाते हैं।

त्योहार मूल रूप से सामाजिक आनंद के अभिव्यक्ति का माध्यम है जहाँ सामूहिक लोकधर्म ही प्रमुख है। कोई भी जाति-जनजाति की अपनी भौगोलिक-सामाजिक तथा ऐतिहासिक धरातल के आधार पर ही उस जाति या जनजाति की लोकोत्सव-परंपरा के स्वरूप को समझ सकते हैं। दरअसल पर्व-त्योहारों के प्रमुख विशेषता ही सार्वजनिक आनंद और लोकसमाज के मिलनसेतु हैं। मूलतः ''लौकिक पर्व-त्योहार ग्राम्यांचल के लोगों के द्वारा प्रतिवर्ष मनायी जाती है। इन्हीं लौकिक और सामाजिक पर्व-त्योहारों को समाज में धर्मनिरपेक्ष पालन करते है। इसमें कोई संदेह नही कि धर्म हो या समाज, जिसमें भी ये पर्व-त्यौहार सम्मिलित हो, सभी ग्राम्य जीवन के लिए सुखदायक है।''[1]

बिहू असम के प्रमुख जातीय त्योहार है। रंगाली बिहू, माघ बिहू, काति बिहू को सामाजिक लोकाचारों में पालन किया जाता है। बिहू असम के सभी जाति-जनजाति के सांस्कृतिक समन्वयता का प्रतीक है। दरअसल ''संस्कृति भी नदी की गति की धारावाहिकता को लिए हुए है।''[2] असम में बसे जाति-जनजातियों की संस्कृति में समन्वयकता के स्वरूप का आभास होता है। बोड़ो जनजाति के लोगों में 'वैशागु' उत्सव असमिया जाति 'बिहू' के ही समपर्याय में मनाया जाता है। रंगाली बिहू के समय असमिया समाज में पारंपरिक प्रथा को मनाते हुए गाते हैं- लाऊ खाओ वेंगेना खाओ, दिन-व-दिन बढ़ते जाओ, वही वैशागु त्योहार में भी इन गीतों को अपने भाषा में गाते हैं- लाउजा, फान्हाउ जा, बौसौर बौसौरएर हांजा हांजा। बोड़ो जनजाति के अन्य एक प्रमुख उत्सव के रूप में 'खेराय' उत्सव को मनाया जाता है। खेतों के श्रीबृद्धि हेतु खेराय पूजा को मनाते हैं। लोक विश्वास के अनुसार इस पूजा में अपने धार्मिक देवता को पूजते हैं। इस पूजा में बलि विधान की प्रथा को अपनाते हैं। इस जनजातीय समाज में माघ बिहू को 'मागु या दोमाही' और काति बिहू को 'काति गाछा चाउनाई' के नाम से मनाते है।

राभा जनजाति असम के एक प्रमुख जनजाति है। इस जनजातीय लोगों के बीच सामूहिकता से मनाये जाने वाले त्योहारों में लोकनृत्य, लोकगीत आदि लोक-परंपरा के रक्षण हेतु सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं। राभा जनसमुदाय में कृषि उत्सव के रूप में विसुवा बिहू, कातिगाछा और दोमासी नाम से तीन बिहुओं को पालन करते है। परंपरा से चले आए रीति-रिवाजों के स्वरूप को अपनाते हुए कातिगाछा में तुलसी के पौधों की पूजा करते हैं। 'बायखौ' इस जनजाति के प्रमुख त्योहार हैं जिसका अटूट संबंध कृषि क्षेत्र से है।

अपनी जीविका के मूल साधन के रूप में खेतों को मानने वाले राभा जनजाति के लोगों में यह लोकविश्वास आज भी जीवित है कि इस पूजा के मनाने से कृषि में विकास होंगे और अपने घर-परिवारजनों को अपाय-अमंगलों और कठिन रोगों से मुक्ति मिलेगी। 'माम्बेबाकाय'(लक्ष्मी पूजा) राभा समुदायों के बीच हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं ताकि खेतों में अनाज अपनी मेहनत के अनुसार उत्पाद कर पाए। इस जनजातीय समाज में देवी पूजा प्रथा भी प्रचलन है। 'काचाईखाती पूजा' में किसी भी प्रकार के बलिप्रथा का प्रचलन नहीं किया जाता। राभा समाज में संस्कार संबंधी उत्सवों का पालन भी किया जाता है। नवजातक शिशु के जन्म संबंधी त्योहार, विवाह से जुड़े पर्व-त्योहारों को मनाते हुए अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों को पूर्वपुरुषों से लेकर वर्तमान तक निभाती आयी हैं।

तिवा जनजाति को असम के प्रमुख जनजातियों के रूप में गिना जाता है। शारीरिक बनावट से ये लोग मंगोल जाति के निकट थे। इस जनजाति के लोग असम के मरिगांव, लखीमपुर, जोरहाट, धेमाजी आदि जिलों में निवास करते है। तिवा समुदाय अपनी भाषा एवं सांस्कृतिक अस्मिता को लिए हुए है। ये मूलतः कृषि प्रधान जनजाति है। तिवा जनसमूह में कृषि से संबंधित प्रमुख त्योहारों

में 'पिचु'(बिहू) है, जिन्हें बड़ी खुशी से मनाते हैं, ''जोनबिल मेला पहाड़ी और मैदानी दोनों में बसे तिवा जनजाति के सांप्रीतिक मिलनस्थली है। पहाड़ी-मैदानी दोनों प्रांत के तिवा लोगों के बीच प्रचलित बिनिमय प्रथा इस मेले की मुख्य विशेषता है।''[3] बरत पूजा, जंगखंग पूजा आदि इस जनजातीय समुदाय के प्रमुख त्योहार हैं।

बरत पूजा–

मिचिंग जनजातीय समाज में वसंतकालीन त्योहारों में 'आलि-आइ-लिगंग' प्रमुख हैं। देउरी जनजातीय समाज कृषिकर्मों में निपुण हैं। ये लोग अपने खेतों में धान उगाने के समय और धान काटने के समय में अपनी धार्मिक विश्वास और रीति-परंपराओं के साथ कई उत्सवों का पालन करते हैं। असम के प्रमुख जनजातियों में सोनोवाल कछारी, गारो, हाजंग, कार्बि, दिमासा आदि भी हैं। इन जनजातीय समाजों में उत्सवों के साथ-साथ देवी-देवता का पूजा-अर्चन एवं वंदन करने की प्रथा विराजमान हैं। प्रकृति के प्रति भक्तिभाव, पेड़-पत्थर आदि पर किए गए पूजा के प्रति आस्था इन समाजों में मौजूद हैं। सभी जनजातीय समाज में मनाए जाने वाले त्योहार सामूहिक श्रम व अस्तित्व की अभिव्यक्ति हैं।

''पूर्वोत्तर भारत रंगारंग लोक संस्कृति की धरोहर है। असम तथा पूर्वोत्तर भारत की सभी जातियों, उपजातियों, जनजातियों की अपनी संस्कृति है। इन संस्कृतियों के साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति का भी संपर्क है परंतु आज शेष भारत के लोगों का इन पूर्वोत्तर की संस्कृतियों के साथ परिचय न के बराबर है जो भारतीय एकता की कमजोर कड़ी है इसके कारण इनके मध्य भावनात्मक संपर्क का भी अभाव है।''[4] त्योहार इन संस्कृतियों तथा असम भूमि की प्राण है। असम में बसे जनजातीय लोगों के द्वारा मनाये जाने वाले इन त्योहारों के साथ साथ जनजातीय समाज के सामाजिक-आर्थिक व सांस्कृतिक दिशा की भी गहरी आस्था बनी हुई है। असल में सामाजिक त्योहार एक दर्पण की तरह सामजिक जीवनबोध, शिल्पचेतन सौंदर्यबोध, धार्मिक आस्था तथा सांस्कृतिक जीवनचर्या को प्रतिबिंबित करती है।

किसी भी जाति-जनजाति के अपनी परंपरा तथा संस्कृति के प्रति अटूट विश्वास ही त्योहारों के पालन में मुख्य भूमिका निभाती है। लोकगीत, लोकनृत्य, लोककला आदि के जरिए जीवन की गतिशीलता को ताउम्र बनाए रखने हेतु समय-समय पर उत्सवों का मनाने में इन जनजातीय समाज की एक बड़ी उपलब्धि है। साथ ही अपने पारंपरिक सभ्यता-संस्कृति के दर्शन-प्रदर्शन के जरिए ऐतिहासिक धारावाहिकता को अक्षुण्ण रखने में मदद करती है। अतः असम की जनजातीय त्योहारों की व्यापक परिदृश्य में लोक-परंपरा तथा लोक-विश्वासों की भूमिका महत्वपूर्ण है।

संदर्भ

1. असमर लोक-संस्कृति, बिरिन्सी कुमार बरुवा, गुवाहाटी 1967, पृ. 124

2. असमर संस्कृति, डॉ. लीला गोगोई, बनलता प्रकाशन, 2012, पृ. 6

3. तिवा जनगोष्ठीर लोक-संस्कृति, बेबी मणि गगोई, पृ. 163

4. पूर्वोत्तर भारत के राज्य, माता प्रसाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली- 1998, पृ. 5 ▲▲▲

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग,
राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर,
अरुणाचल प्रदेश

माजुली की मुखौटा कला

आदित्य कुमार मिश्र

पूर्वोत्तर भारत के असम राज्य में स्थित माजुली दुनिया का सबसे बड़ा नदी द्वीप माना जाता है। यह द्वीप उत्तर में सुबनसिरी नदी और दक्षिण में ब्रह्मपुत्र नदी के दोआब पर स्थित है। माजुली को असम की सांस्कृतिक राजधानी भी कहा जाता है। असम में प्रचलित विविध कलारूपों का मूल उत्स माजुली ही है। असम में महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव (1449-1568 ई.) ने नव वैष्णव भक्ति आंदोलन का सूत्रपात किया। भक्ति के क्षेत्र में स्थिरता और एकसूत्रता लाने के लिए उन्होंने 'एक शरण नाम धर्म' का प्रवर्तन किया जिसके फलस्वरूप उन्होंने भक्ति में बहुदेववाद के स्थान पर एक परम पुरुष श्रीकृष्ण को ही आराध्य के रूप में स्वीकृति दी। इस संबंध में असमिया साहित्य के मूर्धन्य विद्वान महेश्वर नेओग ने अपनी पुस्तक 'शंकरदेव एंड हिज टाइम्स' में कहा है, "The neo vaishnava movement of assamis associated with the personality of sankardeva (1449-1568 A.D.). The doctrine of bhak or love is traced back to great antiquity and is to be connected with early visnuism."[1]

श्रीमंत शंकरदेव का व्यक्तित्व बहुआयामी था। उन्होंने अपने नव वैष्णव मत के प्रचार-प्रसार हेतु असम में अनेक सत्रों की स्थापना की। ये सत्र अध्ययन-अध्यापन के साथ ही विविध लोक कलाओं के भी केंद्र हैं। ये सत्र माजुली ही नहीं अपितु पूरे असम के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सत्र असम के धार्मिक-सामाजिक जीवन के मूलाधार हैं, धर्म एवं लोकतंत्र का पाठ पढ़ाने वाले संस्थान हैं। इस विषय में अमूल्य चंद्र बोरा जी ने कहा है कि, 'The Satras are dipositories of the larg number of valuable religious and cultural documents and articles of great historical value which are being preserved for prosperity.'[2]

अनेक वर्गों, समूहों तथा जनजातियों में विभक्त असमिया समाज को संयोजित एवं संगठित करने के लिए उन्होंने सत्रों की स्थापना की। सत्र का एक सत्राधिकार होता है जिसके निर्देशन और मार्गदर्शन में शिष्यों को अनेक कलाओं का प्रशिक्षण दिया जाता है। सत्रों में एक नृत्य प्रणाली चलती है जिसमें आध्यात्मिक प्रेम को प्रदर्शित करते हुए विष्णु के अवतार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया जाता है। इस नृत्य को सत्रिय नृत्य कहा जाता है। महाकवि द्वारा प्रवर्तित नव वैष्णव आंदोलन ने असम में अनेक कलाओं को जन्म दिया। इस आंदोलन में जितनी कलाओं का जन्म हुआ, उन सभी में शंकरदेव की मौलिक प्रतिभा का सन्निवेश था। इन कलाओं का प्रशिक्षण सत्रों में दिया जाता था। सत्रों में नृत्य कला के अतिरिक्त गायन, वादन, अभिनय, चित्र, नाट्य हाथ से बनाए जा सकने वाले अनेक उपकरणों का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रत्येक सत्र का अपना अलग वैशिष्ट्य इस मायने में है कि विभिन्न सत्र भिन्न-भिन्न कलारूपों के लिए प्रसिद्ध हैं, जैसे- हस्तकला, मुखौटा निर्माण कला, नाव निर्माण कला, वाद्ययंत्रों को बनाना, सत्रिय नृत्य का प्रशिक्षण आदि।

सत्रों में प्रचलित विविध कलाओं में मुखौटा कला एक महत्वपूर्ण कलारूप है। दुनिया के लगभग प्रत्येक समाज और संस्कृति में मुखौटा मनुष्य की अभिव्यक्ति, कल्पना और कला के रूप में उपयोगी रहा है। आदिकाल से ही मुखौटे मनुष्य जीवन की विभिन्न वृत्तियों और कलाओं के माध्यम रहे हैं। मानव स्वभाव में बहुत कुछ ऐसा है जिसे हम अपने चेहरे से व्यक्त नहीं कर पाते। मुखौटा मनुष्य की कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता का सुंदर उदाहरण है। माजुली का सामागुरी सत्र मुखौटा निर्माण कला के लिए प्रसिद्ध है। इस सत्र की स्थापना अहोम राजा स्वर्गदेव चक्रध्वज सिंह की मदद से चक्रपाणि आता ने 1663 ई. में की। इस विषय में अमूल्य चंद्र बोरा जी अपनी पुस्तक 'द रिच हेरिटेज ऑफ आइसलैंड माजुली' में कहते हैं, "Chakrapani ata laid down the foundation of sri sri chamoguri satrain the year 1663 near jamani water body. He was a disciple of the great saints sankardeva and madhaba deva. The satra got royal help from the Ahom king swargadeu chacradradhar singhin full form."[3]

यह सत्र माजुली में सर्वाधिक आकर्षण का केंद्र है। सत्र में मुखौटों के निर्माण का प्रशिक्षण आज भी दिया जा रहा है, ये मुखौटे श्रीमंत शंकरदेव विरचित अंकिया नाटकों के मंचन के दौरान अनिवार्य रूप से प्रयोग किए जाते हैं। वर्तमान समय में माजुली के सबसे प्रसिद्ध शिल्प रूपों में मुखौटा शिल्प है। इन मुखौटों का प्रयोग अंकिया नाटकों के मंचन के दौरान किया जाता है। अंकिया नाटकों के लिए कोई स्थायी रंगमंच नहीं होता है, इन्हें खुले रूप में ही प्रदर्शित किया जाता है। अंकिया नाटकों का प्रचलन सत्रों के भीतर स्थित नामघर या प्रार्थना घरों में होता है। माजुली के लगभग हर सत्र में भाओना (अंकिया नाट) का प्रदर्शन आयोजित करना एक परंपरा है जिसमें मुखौटों का इस्तेमाल अनिवार्य माना जाता है। मुखौटा सत्रिय संस्कृति का भी एक अभिन्न हिस्सा है। परंपरागत रूप से मुखौटे का इस्तेमाल धार्मिक नृत्य और नाटक के लिए किया जाता है। श्रीमंत शंकरदेव द्वारा भक्तों को श्रीमद्भागवत के चरित्रों को बनाने और चित्रित करने के लिए एक माध्यम के रूप में इनकी परिकल्पना की गई थी। विभिन्न जनसमुदायों में बंटे तत्कालीन असमिया समाज को नव वैष्णव भक्ति की तरफ मोड़ना किंचित कठिन था। इसलिए महाकवि ने अंकिया नाटकों के प्रदर्शन के दौरान

पहने जाने के लिए इन मुखौटों का आविष्कार किया। उन्हें पता था कि आम जनमानस को प्रत्यक्ष रूप से नव वैष्णव आंदोलन में शामिल करने के बजाय नाटकों के माध्यम से आकर्षित करना समुचित होगा। नाटकों में प्रयोग किए जाने वाले इन मुखौटों ने उसे अधिक लोकप्रिय और सजीव बनाया। मुखौटों ने पौराणिक पात्रों का अभिनय करने वालों को सजीव रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। माजुली में रास उत्सव के अवसर पर इन मुखौटों का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाता है। विभिन्न अंकिया नाटकों के प्रदर्शन के अवसर पर इन मुखौटों का प्रयोग होता है। शंकरदेव ने राम और कृष्ण के जीवन पर आधारित कुल 6 नाटकों की रचना की। इन नाटकों में बाली, सुग्रीव, हनुमान, जटायु, रावण, सूर्पनखा, बकासुर जैसे विभिन्न पात्रों का अभिनय कलाकार मुखौटों के माध्यम से करता है। मुखौटों का प्रयोग कलाकार के अभिनय तथा संवाद कौशल में सहायक होता है। रावण, ताड़का, बकासुर, हनुमान जैसे पात्रों की विभिन्न मुद्राओं और भावनाओं का चित्रण इन मुखौटों के माध्यम से अधिक संभव होता है। सामागुरी सत्र के मुखौटे और उनकी प्रसिद्धि के विषय में कहा गया है, "Significantly, sri sri natun chamaguri satrais renouned for unique mask making art and rash leela festival. The famous mask art of natun chamaguri satra has already received both national andinternational recognition and frame."[4]

माजुली के मुखौटे विभिन्न प्रकार पौराणिक पात्रों पर बनाए गए हैं। ये मुखौटे नाट्य प्रदर्शनियों में पहने जाते हैं। पुराणों के वे पात्र जिनसे आम जनमानस भावनात्मक रूप से लगाव रखता है और उन्हें अपनी आँखों से फिर से देखना चाहते हैं, उनके लिए ये नाट्य प्रदर्शन मानसिक तुष्टि का कारण बनते हैं। सिर्फ नाटकों के प्रदर्शन के अवसर पर ही नहीं अपितु माजुली तथा पूरे असम में ये मुखौटे वहाँ के लोकानुष्ठानों और उत्सवों में भी प्रयुक्त होते हैं। शंकरदेव के समय से ही नव वैष्णव आंदोलन के सांस्कृतिक संरक्षण में इस कला का विकास हुआ।

मुखौटा बनाने के लिए मुख्य रूप से बांस, बेंत, कपड़े और मिट्टी आदि का उपयोग किया जाता है। पहले मुखौटे लकड़ी, मिट्टी जैसी विभिन्न सामग्रियों से बने होते थे। बाद में इन मुखौटों को बनाने के लिए बांस का इस्तेमाल किया जाने लगा। बांस से बने मुखौटे स्वाभाविक रूप से काफी हल्के हैं। बांस के टुकड़े 4-5 दिनों के लिए पानी के नीचे रखे जाते हैं। पानी में बाँस के टुकड़ों को भिगोने से कीट के हमले को रोका जाता है और बाँस की नलियों को अधिक लचीलापन मिलता है। नियमित अंतराल पर बेंत की पट्टियों के साथ बांस की पट्टियों को बांधा जाता है। इस प्रकार ये मुखौटे भाओना (नृत्य नाटिका) के प्रदर्शन में प्रयुक्त होने लगे। प्राकृतिक रंगों का उपयोग पहले मुखौटों के सौंदर्यीकरण के लिए किया जाता था, लेकिन अब बाजार से कृत्रिम रंगों का उपयोग भी किया जाता है। बाल और मूंछें जूट और पानी की जलकुंभी से बनाई जाती हैं। बेहद सावधानीपूर्वक इन मुखौटों का निर्माण किया जाता है। मुखौटे तीन प्रकार के होते हैं- मुख (mukh) : ये केवल चेहरे के रूप में प्रयोग में आते हैं, लोतोकई मुख (lotokai mukha)- इस प्रकार के मुखौटे, आँखों और होंठों को हिलाने के लिए प्रयोग में आते हैं, बोर अथवा चो मुख (bor or cho mukha)- ये आकार में बड़े होते हैं और लगभग पूरे शरीर को ढंकते हैं। माजुली के मुखौटों के प्रकार के विषय में, Arifur zaman कहते हैं "There are three types of masks at majuli. These are : mukh mukha, cho mukha, and lotokai mukha- Mukh mukhais worn over the face. Cho mukhais very bigin size and covers almost the whole body of a person. Lotokai mukhais akin to cho mukha eceptits small size."[5]

मुखौटों के निर्माण में 10 से 15 दिन लग जाते हैं। मुखौटे के ढांचे को ढीले-ढाले बाँस और बेंत की पट्टियों के साथ बनाया जाता है, जो चेहरे के आकार में एक साथ जोड़े जाते हैं और फिर चिपचिपी गीली मिट्टी में सूती कपड़े को डुबाकर इसको चिपकाया जाता है, जिसके बाद इसे धूप में सुखाया जाता है। मुखौटा जब आधा सूख जाता है तो मिट्टी और गाय के गोबर के मिश्रण से आंखों और अन्य अंगों को आकार दिया जाता है। कान बांस के टुकड़ों से बने होते हैं। पेड़ों की छाल या जूट का उपयोग बालों के लिए किया जाता है। पूरी तरह सूख जाने से पहले ही बांस के एक तीखे टुकड़े को लेकर मुखौटे की सतह को चिकना करने के लिए घिसा जाता है, जिसके बाद मुखौटा अपने अंतिम रूप में पहुंचता है जहां उसे विभिन्न रंगों से सजाया जाता है।

सामागुरी सत्र के प्रसिद्ध मुखौटा कलाकार डॉ. हेमचंद्र गोस्वामी पिछले कई वर्षों से इस कला का प्रशिक्षण सत्र में शिष्यों और देश-विदेश से आने वाले पर्यटकों को दे रहे हैं। उनका मानना है कि श्रीमंत शंकरदेव ने अपने नाटकों को मंचित करने के दौरान मुखौटों की आवश्यकता को महसूस किया जिसकी वजह से उन्होने मुखौटा निर्माण की कला का प्रारम्भ किया। यह कला परंपरा 500 वर्ष से भी पुरानी है जिसका निर्वहन आज भी होता चला आ रहा है। वर्तमान में रास-उत्सव को माजुली में लगभग 55 स्थानों पर धूमधाम और उल्लास के साथ मनाया जाता है और इस दौरान मुखौटों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता है। पिछले 35 वर्षों में हेमचंद्र गोस्वामी जी बड़ी संख्या में छात्रों को यह प्रशिक्षण देते आ रहे कि मंच पर इस्तेमाल होने वाले इन पारंपरिक मुखौटों को कैसे बनाया जाता है ? हेमचंद्र गोस्वामी ने बाँस के बोलने वाले मुखौटों का भी निर्माण किया है जो अभिनेताओं को संवाद करने में सहायता पहुँचाते हैं। भारत, फ्रांस, जर्मनी और इजराइल आदि देशों के कई विद्यार्थी यह कला सीखने यहाँ आते हैं। सत्र में मुखौटों को बनाने की कला का प्रशिक्षण बिना किसी पारिश्रमिक के दिया जाता है। इस विषय में, Arifur zaman कहते हैं "In the natun chamaguri village, where the study satra is situated, most of the person practiced mask making as a primary occupation. A mask makeris respected by the

people by his ability. All the recent past, a mask maker did not receive any remuneration for his creation except for honour and prestige."[6]

सत्र द्वारा निःशुल्क रूप से मुखौटों के निर्माण की शिक्षा दी जाती है, हेमचन्द्र गोस्वामी जी का कहना है कि आने वाली पीढ़ियों के लिए यह कला संरक्षित रहे यही इसका मूल्य है।

माजुली अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और मुखौटों की जीवंत संस्कृति के कारण आज भी आकर्षण का केंद्र है। असम में नव वैष्णववादी संस्कृति का जन्मस्थान यहीं माना गया। माजुली के सत्रों में मुखौटा कला का इतिहास श्रीमंत शंकरदेव के नव वैष्णव आंदोलन से बहुत गहराई से जुड़ा हुआ है, शंकरदेव ने कला और संस्कृति सहित विभिन्न क्षेत्रों में नवसृजन किए जो आने वाली कई पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय बना हुआ है। माजुली के मुखौटे स्वदेशी कला और संस्कृति के उच्चतम नमूने हैं। ये कला किसी एक दिन की साधना नहीं बल्कि इसकी पूरी परंपरा रही है, यह गुरु-शिष्य परंपरा से होते हुए आज यहाँ तक पहुँची है। दिनों-दिन इन मुखौटों की मांग विदेशों में बढ़ती जा रही। कलाकारों की मानें तो माजुली के मुखौटे ब्रिटिश संग्रहालय में रखे गए हैं जहाँ वे पर्यटकों के आकर्षण के केंद्र बने हुए हैं। इनके द्वारा बनाए गए इन मुखौटों की बढ़ती लोकप्रियता को देखते हुए कहा जा सकता है कि इसकी प्रसिद्धि के पीछे इन कला साधकों की मेहनत, लगन और कला के प्रति समर्पण है। माजुली पिछले लगभग 500 वर्षों से असमिया सभ्यता और संस्कृति की राजधानी है। माजुली के सत्रों में आज भी शिष्य, भक्त बिना किसी लोभ और पुरस्कार की अपेक्षा किए नयी-नयी कलाएं सीख रहे हैं। ये कलाएं समाज के लिए उपयोगी तो हैं ही साथ ही माजुली और शेष भारत के संबंधों की अक्षुण्ण परंपरा को हमारे सामने उपस्थित करती हैं। आज आवश्यक है कि हम इन कलाओं के महत्व को समझते हुए इनके संरक्षण के लिए प्रयास और सहयोग करें।

संदर्भ

1. शंकरदेव एंड हिज टाइम्स, महेश्वर नेओग, एल.बी.एस. पब्लिकेशन गुवाहाटी, द्वितीय संस्करण 2018, पृ. 1

2. द रिच हेरिटेज ऑफ आइसलैंड माजुली, अमूल्य चन्द्र बोरा, डिजिटेक प्रिंटर्स, माजुली, प्रथम संस्करण (2017), पृ. 62

3. वही, पृ. 58

4. वही, पृ. 59

5. द ट्रेडिशन ऑफ मास्क्स इन इंडियन कल्चर, अरिफुर जमान, आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण (2015), पृ. 74

6. वही, पृ. 83.

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

अरुणाचल प्रदेश की मिकिर जनजाति की एक झलक

सिमरन कुमारी

उत्तर में तिब्बत एवं चीन, पूर्व में वर्मा (म्यांमार) तथा दक्षिण में असम तथा पश्चिम में भूटान से घिरा अरुणाचल वस्तुतः उगते हुए सूर्य के अंचल के रूप में प्रसिद्ध है। पूर्व में इसका नाम 'नेफा' (नॉर्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी) था। नेफा को 20 जनवरी, 1972 ई. को केंद्रशासित प्रदेश का दर्जा मिला और नेफा के स्थान पर अरुणाचल प्रदेश नाम रखा गया। अरुणाचल प्रदेश को 20 जनवरी, सन् 1987 ई. को पूर्ण राज्य का दर्जा मिल गया। इस राज्य की राजधानी ईटानगर पापुमपारे जिले में है। अरुणाचल प्रदेश पर्वतों, नदियों, घाटियों, वृक्ष- लताओं से परिपूर्ण, हरीतिमा, बिखेरती सुरम्य भूमि है। यहाँ की जनजातियां अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परंपराओं के लिए प्रसिद्ध है।

अरुणाचल प्रदेश की प्रमुख जनजातियां 26 हैं और उपजनजातियां सौ से भी अधिक हैं। प्रमुख जनजातियां हैं- न्यीशी, गालो, आदि, आपातानी, तागिनी, मोनपा, नोक्ते, वांग्चू, खाम्ती, मेंबा शेरदुकपेन, आवा, और सिंग्फो आदि है। इन जनजातियों में से एक मिकिर जनजाति है जिनका जिक्र अरुणाचल में बहुत कम होता है। मिकिर जनजाति की एक झलक, मिकिर का अर्थ 'मेकर' से लिया गया है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'मानव या स्वजाति' है। मिकिर भाषा तिब्बत बर्मन समूह से संबंधित है। मिकिर जनजाति के लोग अरुणाचल में बहुत पहले से रहते हैं। जब अरुणाचल का नाम नेफा था तभी से ही ये जनजाति अरुणाचल में निवास करते हैं। मिकिर जनजाति के लोग कहां से आए कब आए ये कहना बहुत मुश्किल है क्योंकि इनका कोई लिखित इतिहास नहीं है इस समाज की अभिव्यक्ति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी मौखिक रूप में की गई।

असम में मिकिर जनजाति को 'कार्बी जनजाति' के नाम से जाना जाता है, पर अरुणाचल में 'मिकिर जनजाति'। मिकिर शब्द कार्बी भाषा का शब्द नहीं है इसलिए मिकिर के बजाए वह अपने आप को 'आलैंग' पुकारना अधिक पसंद करते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि 'मिक्रि' नाम की राजकुमारी का विवाह 'नागा' राजकुमार के साथ हुआ था और राजकुमार राजकुमारी के नाम का सही उच्चारण नहीं कर पाए तो मिकिर कह कर पुकारते। इसी से मिकिर की उत्पत्ति हुई। आज रोटी, कपड़ा और मकान के चलते मिकिर जनजाति पूर्वोत्तर के राज्यों में जाकर बस गए। ये जनजाति असम के मुख्य जनजातियों में से एक है। पर आजकल यह जनजाति अरुणाचल में निवास करती है और अरुणाचल की जनजातियों में गिनी जाती है। 2011 की जनगणना के अनुसार इन जनजातियों की जनसंख्या 1000 तक थी, इस कारण ये जनजाति अलग-अलग धर्मों में परिवर्तित हो रहे हैं।

अनुसूचित जनजाति संशोधन अधिनियम 1950 के अनुसार पापुमपारे जिले के -चेसा, कोकिला, बालिजान, गूम्तो, होलोंगी और तरासो में निवास कर रहे हैं।

All arunachal Pradesh mikir welfare society (APMWS) के प्रथम स्थापना दिवस समारोह को संबोधित करते हुए स्थानीय विधायक 'नाबाम रिबिया' 12 जनवरी, 2018 में कहा- ''मिकिर अरुणाचल प्रदेश की एक स्वदेशी जनजाति है। आइए हम सब मिलकर मिकिर जनजाति के प्रति सहानुभूति रखें और साथ मिलकर चलने की अपील करें उन्हें अरुणाचल प्रदेश में अनुसूचित जनजाति का प्रमाण पत्र देने की मांग करें।''

मिकिर जनजाति के लोग पितृवंशी समाज की तरह है तथा इस जनजाति के पांच वंशज समूह है। इस प्रकार -1ः लिजांग - इंग्ती। 2 ः हान्जांग - तेरांग। 3 ः इजंग- इंची। 4 ः क्रोजंग - तेरोन। 5 ः तुनजुंग - तिमुंग।

उपर्युक्त जनजातियों के समान वंशज में विवाह नहीं होती हैं, बल्कि अलग-अलग वंशज समूहों में होती हैं। मिकिर जनजाति धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है, क्योंकि इनकी जनसंख्या बहुत कम है। लोग इनके बारे में बहुत कम जान पा रहे हैं और बहुत सी जनजाति इन जनजातियों के बारे में बहुत गहराई से नहीं जान पातीं। इनका अभी लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है, लेकिन वर्तमान समय में इन जनजातियों के ऊपर बहुत से लेख, आलेख और कार्यक्रम के आयोजन से इन जनजातियों से परिचित हो रहे हैं। ये जनजातियों का व्यवहार बहुत ही सरल और स्वाभाविक होता है।

मिकिर जनजाति की एक झलक निम्न बिंदुओं के द्वारा देखी जा सकती है-

जीवन शैली से संबंधित अवधारणाएँ

रहन सहन

मिकिर जनजाति के लोग सरल और सादा जीवन पारंपरिक ढंग से निभाते हैं। इस समुदाय के लोग बहुत ही शांत स्वभाव, मददगार और मिलनसार होते हैं। इस समुदाय में किसी भी तरह के कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं तो उसमें पूरा गांव निस्वार्थ भाव से एकजुट होकर मदद के तैयार हो जाते हैं, चाहे वह विवाह से संबंधित हो (आदाम-आसार), घर बनाना हो (हेम कीकीम) पूजा अर्चना करनी हो (चार्यदान) जन्मोत्सव मनाना हो (आमाहांग केथेक) सब में पूर्ण रूप से सहयोग करते हैं।

इस जनजाति की स्त्रियां गृहस्थ जीवन के साथ-साथ बच्चों को पीठ पर बांधकर पुरुषों के साथ झूम खेती करने जाती हैं और पुरुषों को हर क्षेत्र में पूर्ण रुप से सहयोग करती हैं पर आज धीरे-धीरे शिक्षा और विज्ञान के विकास के साथ-साथ स्त्रियां भी हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं, अध्ययन-

अध्यापन, लेखन, सरकारी सेवा (नौकरियों) और राजनीतिक क्षेत्रों में भी आगे बढ़ रही हैं। इस जनजाति के लोग बहुत कम शिक्षित होते हैं क्योंकि इनके पास इतनी सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन वर्तमान समय में सरकार इनके लिए बहुत सी सुविधाएं उपलब्ध करा रही है, जिस कारण यह अध्ययन क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ रहे हैं और हर तरह के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। आज वर्तमान समय में स्त्रियां पुरुषों के समान आ गई हैं जो काम पुरुष कर रहे हैं वो काम आज स्त्रियां भी कर रही हैं। स्त्रियां आज अपनी पहचान स्वयं बना रही हैं। इस जनजाति में स्त्रियों के लिए कोई बंधन नहीं है जैसे चाहे वैसे रह सकती हैं खुलकर स्वतंत्र रूप से वह अपना घर गृहस्थी और बाहर के कार्यो को अच्छे से निभाती हैं और सभी लोग मिल-जुलकर रहते हैं। इस जनजाति के लोग यानी स्त्री और पुरुष दोनों ही बहुत मेहनती होते हैं। शारीरिक रूप से बहुत काम करते हैं। इस जनजाति में स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं है। दोनों समान रूप से स्वतंत्रता के साथ एक दूसरे का हाथ बंटाते हैं। अपने खेती-बाड़ी का पूरा काम अपने भाई-बंधु के साथ मिलकर करते हैं। सभी मिल-जुलकर रहते हैं और सादा जीवन व्यतीत करते हैं।

खान-पान

मिकिर जनजाति के पारंपरिक भोजन बाँस में पकाकर खाने की परंपरा है। इसे मुख्य भाषा में 'किमुंग' कहते हैं। बांस के अंदर चावल को पत्तों में लपेटकर थोड़ा पानी डालकर आग में पकाया जाता है, जिसको 'किमुंग' कहते हैं। बाँस में केवल चावल ही नहीं बल्कि मांस, मछली और तरह-तरह के जंगली पत्तों को, सब्जियों को पकाकर खाते हैं जिसे 'ऑक किंमुग' और हरी पत्तियों (साग) को, सब्जी को केवल पानी में नमक डालकर उबालकर भी खाते हैं जिसे 'उपथोर' कहते हैं। इस समाज के लोग बाँस में बनाया हुआ भोजन और उबाला हुआ हरी पत्तियों को बड़े ही चाव के साथ खाते हैं। इस तरह के भोजन को मैंने भी एक बार ग्रहण किया है, बहुत ही स्वादिष्ट होता है। भोजन के साथ-साथ चावल से बना हुआ मदिरा का भी पान करते हैं जिसे 'आराक या होरालांग' कहते हैं पर आजकल मदिरा के स्थान पर चाय या शरबत देने की परंपरा हो गई है।

चावल से बनी हुई कई तरह की मिठाइयां, पीठा को स्वयं बनाते हैं, जिसे 'हम्बी', 'हिंम', 'ट्रंप्लोप' कहते हैं। इस तरह के भोजन, मदिरा और मिठाइयों को विवाह, उत्सव और विभिन्न तरह के कार्यक्रमों में बड़े ही चाव के साथ इसका पान करते हैं पर जैसे-जैसे समाज परिवर्तन होता गया, वैसे-वैसे इन जनजातियों के खान-पान में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है।

वेशभूषा

मिकिर समाज में पुरुषों और स्त्रियों के लिए वेशभूषा अलग -अलग है। इस समाज में शादी-शुदा पुरुष के लिए अलग पोशाक है और जो शादी-शुदा पुरुष नहीं है, उसके लिए अलग पोशाक है। जैसे शादी-शुदा पुरुष 'चौई आंग' नामक जैकेट पहनते हैं और जो पुरुष शादी-शुदा नहीं हैं वह 'चौई ईक', 'चोई कैलोक' और 'चौई उमसो' नामक पोशाक पहनते हैं और कमर में धोती पहनते हैं जिसे 'पैरों लैंग' या रिकौंग कहते हैं। सिर पर पगड़ी के समान वस्त्र पहनते हैं जिसे 'पोहो' कहते हैं। इसी प्रकार चौपान, बोजारू, आनी पैलू, आदि वस्त्र पुरुषों के लिए है।

स्त्रियों के लिए मुख्य-पिनी (गाले) जो कमर में पहनती हैं तथा उसके साथ एक वामकोक (फीता) लगाती है, 'पैकोक 'और' पीबा 'शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए पहनती हैं और साथ ही इन पोशाकों के साथ कई तरह के पारंपरिक आभूषण भी पहनती हैं। जैसे चवन्नी-दुअन्नी, मोतियों की तरह-तरह के 'लेकधोन', 'हिकी' (माला) पहनती हैं और लैक इयो, लैक रूवै, लैक पाइकौम, लैक जिंगजिरी, रैंक बोग्होंम आदि को पहनती हैं।

कलाई में रोई सुरों, साग्ती, आरी अलैक (चुड़ी), कान में आनैथेंपी (झुमका), रूप बोनंदा (अंगूठी) आदि को अनिवार्य रूप से स्त्रियां पहनती हैं।

इन सभी आभूषणों का जिक्र मिकिर जनजाति के लोकगीतों में देखने को मिलता है। मिकिर समाज के लोग सरल और सादगी जीवन को अपनाते हैं।

जन्म संबंधी अवधारणाएं

मिकिर जनजातियों में लड़के या लड़की के जन्म में कोई भेदभाव नहीं मानते। दोनों को बराबर के नजरिए से देखते हैं। जब किसी बच्चे का जन्म होता है तो माँ 1 महीने तक बच्चे को घर में रखती है। एक महीने बाद नामकरण के लिए मंदिर जाती और नामकरण होने के बाद सभी गाँव वालों को भोज कराते हैं।

बच्चों के जन्म से संबंधित कुछ मांगलिक कार्य जैसे- 'आराम किक' - मामा के द्वारा बच्चों को पहली बार मुंडन कराना भी होता है। 'दुईक्राई', 'निहु केदाम' - मामा के द्वारा पहली बार बच्चों को भोजन कराना। मिकिर जनजातियों में पारंपरिक ढंग से मांगलिक कार्यों को करते हैं।

विवाह से संबंधित अवधारणाएं

मिकिर जनजातियों मे सुसंगत विवाह (Arrange marriage) और प्रेम विवाह (love marriage) दोनों स्वतंत्र रूप से होता है और विवाह के लिए किसी भी प्रकार से दहेज प्रथा की बात नहीं होती है जिसके पास जितना होता है वह अपने बेटियों को देकर उसका निर्वाह करते हैं। इन जनजातियों में विवाह बहुत ही पारंपरिक ढंग से मिल-जुलकर संपन्न कराया जाता है।

मिकिर जनजातियों में विवाह को 'आदाम-आसार' कहते हैं। मिकिर जनजातियों में एक लड़का और एक लड़की को विवाहित जोड़ा घोषित करने से पहले छः नियमों का पालन करना पड़ता है। जैसे- पहले नियम को 'नेग्पी नेग्सो काचिंकी' कहते हैं। अर्थात लड़के की माँ को लड़की की माँ से मिलना होता है और विवाह का विचार रखते हैं। एक लड़का केवल बाहर की कबीले की लड़की से ही विवाह करता है जो कि उसके मामा की बेटी होती है। माना जाता है कि दोनों महिलाओं के बीच 'काचिछूत' नामक गीतों के माध्यम विवाह की बातचीत होती है। लड़के की माँ लड़की के घर जाते समय 'आराक' (मदिरा) अनाज, पान-सुपारी उपहार के रूप में देते हैं।

दूसरे नियम को 'पिसो केहांग' कहते हैं। इस चरण के दौरान विवाह प्रस्ताव को औपचारिक रूप से लड़की के पिता लड़के के पिता से मिलने जाते हैं और गाँव के कुछ चुनिंदा लोग भी साथ में होते हैं। लड़के के परिवार वाले लड़की के

पिता को 'बोंगक्रूक' (लौकी को भीतर के गूदे को निकालकर उस खोखले से लौकी सुखा कर बोतल की तरह बनाकर उसमें मदिरा भर कर लाते हैं।) जिसे सफेद कपड़े से ढककर लाते हैं।

सबसे पहले मदिरा लड़की के पिता को दिया जाता है इसके बाद चाचा, भाई, मामा फिर गाँव के मुखिया को मदिरा पेश करते हैं और अंत में मेहमानों को, ठीक इसी तरह दूसरी ओर महिलाओं को भी उपहार और मदिरा दिया जाता है। शुरूआत लड़की के माँ से होती है, अगर दोनों परिवार विवाह के लिए राजी है तो लड़की की माँ लड़की को शगुन के तौर कुछ उपहार (वस्त्र, आभूषण, पान-सुपारी) देती है, जिसे 'सिम किबी' भी कहते हैं।

तीसरे नियम को 'कापातिनी' कहते हैं। इस नियम के अनुसार लड़की के परिवार वाले विवाह की अंतिम सहमति के लिए दोबारा लड़के के घर पहले की तरह उपहार लेकर जाते हैं। दोनों परिवार के लोगों की मौजूदगी में लड़की से प्रश्न किया जाता है। अगर उत्तर 'हां' होता है तो उपहार और मदिरा दिया जाता है। इस उपहार को 'असीम' कहते हैं और इसके बाद ईश्वर को पहला चढ़ावा चढ़ाया जाता है। सभी को भोजन ग्रहण कराते हैं।

चौथे नियम को 'आजो अरनी केफा' कहते हैं। इस नियम के अंतर्गत लड़के के परिवार वाले लड़की के घर आकर विवाह की तिथि तय करते है। दुल्हन के घर जाने से पहले परिवार के पूर्वजों का आह्वान किया जाता है और उन्हें प्रसाद दिया जाता है। पांचवें नियम को 'लुन किलुन' कहते हैं। जिसके अंतर्गत विवाह के दिन लड़की के तरफ से एक गायक होता है जो विवाह के गीत गाता है उसी तरह लड़की के तरफ से भी एक गायक होता है जो विवाह के गीत गाता है।

छठे नियम को 'पेसो रिसो कान्चेथोन कहते हैं। इस नियम के अंतर्गत में दुल्हन विवाह के बाद खाना और मदिरा बनाती है और परिवार के सभी लोगों को परोसती और सफेद रंग का कपड़ा भी बनाती। शादी के 3 सप्ताह बाद दूल्हा और दुल्हन अपने कुछ दोस्तों के साथ दुल्हन के घर जाते हैं और फिर दुल्हन कपड़े वापस करती है और मदिरा, सुपारी-पान आदि को उपहार के रूप में दुल्हन के माता-पिता को देते हैं। अंत में दोनों एक साथ भोजन करते हैं और साथ में प्रस्थान करते हैं। और अपने गृहस्थ जीवन को खूबसूरत बनाते हैं। इस तरह से में मिकिर जनजातियों में 6 नियमों के साथ ही विवाह संपन्न होता है।

भाषा शैली

मिकिर जनजाति के बोलचाल की भाषा के रूप में मिकिर बोली का प्रयोग करते हैं। ये अपने मातृभाषा, रोमन लिपि में लिखते हैं क्योंकि इनका क्षेत्र अहिंदी भाषी क्षेत्र है। इनके सीमावर्ती क्षेत्रों में असमिया, बोडों और टूटी हिंदी भाषाओं का प्रभाव है। मिकिर बोली के कुछ शब्द इस प्रकार है-

1 : स्वागत - वांग- इक- नोन

2 : मेहनती - चेपादुक

3 : भोजन -आन, मारी

4 : प्रतियोगिता - चेपाते, काचोबाई

5 : धन्यवाद - कुरूवांगथू

मिकिर जनजाति के लोग अपनी जनजातियों के साथ मिकिर बोलियों का प्रयोग करते हैं और अन्य लोगों के साथ संपर्क भाषा के रूप में वह टूटी हिंदी का प्रयोग करते हैं। इस जनजाति की बोलियों में स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं होता है। जैसे- तुम कहाँ जा रहा है। (लड़का हो या लड़की दोनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग करते हैं।) इन शब्दों को अरुणाचली हिंदी कहते हैं। लड़का हो या लड़की दोनों को समान स्तर पर वातार्लाप करते हैं। अरुणाचल प्रदेश की सभी जनजातियों में शुद्ध हिंदी का प्रयोग बहुत कम मात्रा होता है। मिकिर जनजाति का कोई लिखित साहित्य नहीं है, मौखिक रुप से पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ती गई। पर आज वर्तमान समय में इन जनजातियों का लिखित साहित्य उपलब्ध कराई जा रही हैं और साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए पूरा पूरा प्रयास हो रहा है।

धार्मिक संबंधित अवधारणाएं

मिकिर जनजाति के लोग धार्मिक- मान्यताओं , मूल्यों, विश्वासों, परंपराओं एवं संस्कृति के प्रति अधिक लगाव रखते हैं। मिकिर जनजाति की धार्मिक मान्यताएं, मूल्य, आस्था-विश्वास 'जीवात्मा' पर आधारित है। जीवात्मा की यह आस्था है कि प्रकृति की सभी वस्तुओं में आत्मा (ईश्वर) वास करती है। इसलिए इन प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा करते हैं। ये मुख्यतः प्रकृति-पूजक होते हैं।

इस जनजाति में बलि देने की प्रथा है। पर्व- त्योहार, विवाह, और अगर कोई व्यक्ति अस्वस्थ (बीमार) है उसे स्वस्थ होने के लिए भी जानवरों (मुर्गों) की बलि दी जाती है। इस धर्म की विधियों का पालन मुख्य रूप से मांगलिक कार्यों में करते हैं-

1. रोंगकर – ये पर्व प्रत्येक साल 5 जनवरी या 5 फरवरी को गाँव की मंगलकामना और अच्छी पैदावार के लिए गाँव के सभी लोग मिल-जुलकर इस पर्व को मनाते हैं और मुर्गों की बलि भी देते हैं।

2. चूजून– प्रत्येक वर्ष में एक बार किसी एक परिवार द्वारा पूरे गाँववासियों को भोज कराया जाता है।

3. सेकार्किली– परिवार की कुशल मंगल के लिए पूजा की है।

4. चेमांगकन– परिवार के बुजुर्ग के मृत्यु पर पूरे गाँववासियों को और अन्य गांववासियों को भोज कराया जाता है।

इन अनुष्ठानों से मिकिर जनजाति की धार्मिक एवं सांस्कृतिक-मूल्यों एवं मान्यताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इन जनजातियों के मौखिक लोक कथाओं के माध्यम से इनके ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक-मूल्यों, जीवन-मूल्य, दर्शन और नैतिक आदर्शों को जानने को मिलता है।

आज वर्तमान समय में इन जनजातियों का कोई लिखित साहित्य नहीं है। इसलिए इन जनजातियों के बारे में बहुत गहराई से जानना बहुत मुश्किल है पर आज वर्तमान समय में मिकिर जनजाति की लिखित लोक साहित्य उपलब्ध कराई जा रही है।

▲▲▲

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग,
राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर
अरुणाचल प्रदेश

सांस्कृतिक वैभव सम्पन्न मेघालय

प्रियंका शुक्ल

भारत एक बहुभाषिक देश है। यहाँ के सभी राज्य बहुभाषिक हैं एवं हर एक व्यक्ति एक से अधिक भाषाओं का प्रयोग दैनिक आचरण में सहज और स्वाभाविक स्तर पर करता है। बहुभाषिकता, भारत में समुदायपरक है एवं बहुभाषिक स्थिति एक सहज एवं प्राकृतिक लक्षण है और इसी प्रकृतिकता को सहेजे हुए भारतवर्ष का पूर्वोत्तर राज्य प्रकृति की अनोखी देन है। हिमालय के पाद-प्रांत में विस्तारित यह अंचल हरा-भरा है। पहाड़-पर्वत-मैदानी इलाकों से भरपूर यह क्षेत्र नद-नदियों की कल-कल ध्वनियों से मुखरित होता रहता है। इसका जन-जीवन वैचित्र्यमय है, अनेक जाति-उपजातियों के अतिरिक्त विभिन्न जन-गोष्ठियों का संगम है। जिसके कारण पूर्वोत्तर के राज्यों में अनेक विविधताएँ हैं। पूर्वोत्तर भारत में ऐसी भाषायी विविधता को समझना अत्यंत दुष्कर है। इनकी भौगोलिक संरचना इनके सांस्कृतिक तत्वों को पृथक करती है और स्पष्ट है कि जब सांस्कृतिक विविधता है तो भाषायी विविधता भी होगी।

मेघालय राज्य अपनी संस्कृति, सभ्यता, भाषा, धर्म जीवन की विविधताओं से युक्त भारत के अन्य क्षेत्रों की भाँति ही भारत का यह पूर्वोत्तर क्षेत्र एक समाज ही नहीं अपितु ऐसे विभिन्न समाजों का समूह है, जिसमें हर समाज की अपनी एक अलग विशेषता है। मेघालय भारत का एक ऐसा स्थान है, जिसे बादलों का घर और मिनी स्कॉटलैंड भी कहा जाता है। मेघालय की भाषाई वैविध्यता की अपनी एक अनूठी विशेषता है। पूर्वोत्तर के भाषाई एवं सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश को समझने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है। अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया पूर्वोत्तर के प्रत्येक नृजातीय निवासी को आंतरिक बहुभाषिक विलक्षणता और विशिष्टता प्रदान करती है। मेघालय की खासी, गारो, जयंतिया जनजातियों ने प्रकृति को साथ लेकर भारत की बहुरंगी संस्कृति को एक नई दिशा प्रदान की है।

मेघालय अपनी वेश-भूषा और संस्कृति के लिए पूरे भारत में प्रसिद्ध है। यहाँ महिलाएं अपने पारंपरिक पहनावे को ही पसंद करती हैं, जिसे जेनसम के रूप में जाना जाता है। गारो जनजाति की महिलाएं ब्लाउज के साथ लुंगी पहनती हैं, जिसको डाकमंडा के नाम से जाना जाता है। इसके अलावा खासी जनजाति के पुरुष अपनी कमर के चारों तरफ लंबा कपड़ा और पगड़ी पहनते हैं।

यहाँ के त्योहारों की बात करें तो 'का पांबलांग नोंगक्रम' त्योहार जो कि नोंगक्रेम नृत्यु के नाम से भी बहुत ही प्रसिद्ध है जो हर नवंबर के महीने में आयोजित किया जाता है। यह त्योहार पाँच दिन का होता है और इस त्योहार को 'खासी जनजाति' के द्वारा 'फसल धन्यवाद' के रूप में मनाया जाता है। इस त्योहार की शुरूआत बकरी के बलि से की जाती है और इस त्योहार में खासी जनजाति के कुँवारे लड़के और लड़कियाँ साथ मिलकर नृत्य करते हैं। 'शादमिलसीम' भी खासी जनजाति का प्रमुख त्योहार है। यह पर्व अप्रैल माह के दूसरे सप्ताह में मेघालय की राजधानी शिलांग में मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त का-शाद-काइनजो खास्केन, का बाम खाना श्रोंग, उमसान नोंग खराई और शाद बेह शियर खासी जनजातियों के प्रमुख त्योहार में सम्मिलित हैं। गारो जनजाति के द्वारा यहाँ 'वंगाला त्योहार' बहुत ही धूमधाम से मनाया जाता है। यह त्योहार गारो जनजाति के लोगों द्वारा अपने देवता 'सलजोंग'(सूर्यनारायण) को धन्यवाद कहने के लिए मनाया जाता है। यह त्योहार 'हर फसल के कटाई' के समय शरद ऋतु के अंत में मनाया जाता है और इस त्योहार को दो दिन तक मनाया जाता है। जिसका मुख्य आकर्षण 100 ड्रम या नागारे होते हैं। 'बेहदीनखलम' जयंतिया आदिवासियों का महत्वपूर्ण एवं खुशनुमा त्योहार है, यह त्योहार आमतौर पर जुलाई मास में जयंतिया पहाड़ियों के जोवाई कस्बे में मनाया जाता है। खासी, गारो, जयंतिया, हैजोंग और बियाते जनजाति अन्य कई प्रकार के त्योहार और उत्सव अपने पारंपरिक तरीके से धूमधाम से मनाते हैं। इनके पारंपरिक त्योहारों के अलावा यहाँ क्रिसमस का त्योहार भूत ही उल्लास के साथ मनाया जाता है। दुगार्पूजा, दीवाली, छठ-पूजा और ईद के त्योहार का उल्लास भी मेघालय में देखने को मिलता है।

मेघालय पूर्वोत्तर का मात्र एक ऐसा राज्य है, जहाँ ऐस्ट्रो-एशियाई भाषा परिवार की भाषा ड़खासी' बोली जाति है। यह यहाँ की बहुसंख्यक भाषा भी है। दूसरा बड़ा समुदाय ड़गारो' है, जो ड़तिब्बत-बर्मी' परिवार की भाषा है। अंग्रेजी इस राज्य की राज्य भाषा है तथा खासी एवं गारो को सहायक राजभाषा का मान्यता प्राप्त है। भारोपीय भाषा-भाषी की जनसंख्या लगभग 20 प्रतिशत है। अन्य राज्यों की तरह यहाँ भी वैकल्पिक आम भाषा के रूप में हिंदी भाषा का भी प्रचलन है। भाषा-भाषी जनसंख्या का विवरण निम्नलिखित हैः-

भाषा
भाषा-परिवार
प्रतिशत
खासी
एस्ट्रो-एशियाई
45.05%
गारो
तिब्बत-बर्मी
31.41
बंगाली
भारोपीय

8.04
नेपाली
भारोपीय
8.26
हिंदी
भारोपीय
2.17
असमी
भारोपीय
1.58
मराम
तिब्बत-बर्मी
1.53
राभा
तिब्बत-बर्मी
0.97
कोच
तिब्बत-बर्मी
0.90

बहुभाषी राज्य होने साथ-साथ मेघालय बहुसांस्कृतिक राज्य भी है। यहाँ भीं भिन्न धर्मों के लोग निवास करते हैं, जिसमें ईसाई धर्म के लोग बहुसंख्यक हैं। इनकी संख्या कुल आबादी का 70 फीसदी से भी अधिक है। भिन्न धर्मों के लोगों की जनसंख्या इस प्रकार है- ईसाई 70.25 फीसदी (खासी-80 फीसदी, गारो- 90 फीसदी एवं सिंटेंग- 80 फीसदी), हिन्दू 13.27 फीसदी (कोच- 98 फीसदी, राभा- 90 फीसदी एवं मिकिर 80 फीसदी), इस्लाम 3.27 फीसदी, सिख, जैन एवं बौद्ध -2.71 फीसदी तथा अन्य-5.25 फीसदी (49917 गारो मूल संगसारेक धर्म को और 202978 खासी समूह के लोग मूल नियामए शांग और निमत्रे धर्म को मानते हैं) और उपरोक्त स्थितियों के कारण भारतीय संस्कृति के लिए ड़अनेकता में एकता' जैसा विशेषण अकारण नहीं है। इसी कारण भारतीय संस्कृति के संबंध में टिप्पणी है कि भारतीय संस्कृति समुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियां आकार विलीन होती रही हैं। जिसमें पूर्वोत्तर का मेघालय राज्य अद्वितीय उदाहरण है।

बहुसंस्कृति के तौर पर देखा जाए तो भारतीय संस्कृति एक प्रकार का आत्म-शिक्षण है। वह मन, बुद्धि और स्मृति को नियंत्रित करने वाली आत्मा से संबंधित है। जैसे- विभिन्न प्रकार के फूलों के पराग में गंध निहित होती है, उसी प्रकार संस्कृति भी साहित्य, संगीत, नृत्यु इत्यादि नाना प्रकार की शास्त्रसम्मत विधाओं का प्रतिरूप होती है। उसमें विज्ञान भी है, बंधन भी है और मुक्ति भी। इस प्रकार से हमें ज्ञात होगा कि हमारे चिंतन, मनन, अध्ययन एवं उत्तम संस्कारों का विराट स्वरूप भी बहुसंस्कृति है।

वर्तमान समय में विभिन्न समुदायों का ध्रुवीकरण- राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि होने के कारण एक समुदाय के लोगों का दूसरे समुदाय के साथ भाषिक संपर्क बढ़ता गया। भाषा विचारों की संवाहिका होती है। विचार परिवेशजन्य होते हैं। भौगोलिक स्वरूप के आधार पर परिवेश निर्मित होता है। इसी के आधार पर खान-पान, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, मनोरंजन एवं कलाओं की निर्मिती होती है। अतः विशाल भूखंड में भिन्नता का होना स्वाभाविक है और यही भिन्नता एक विशाल भारत का निर्माण करती है और इस निर्माण में सभी राज्यों के साथ-साथ मेघालय की भाषाई एवं समृद्ध सांस्कृतिक बहुलता का महत्वपूर्ण योगदान है और इस क्रम को हम सब देख सकते हैं कि बहुभाषिकता के साथ बहुसांस्कृतिक विरासत को सहेजे हुए मेघालय राज्य भारत की समसामयिक छवि को मजबूती प्रदान करता है।

▲▲▲

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग,
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय

मणिपुर का लोकनृत्य

वीरेन्द्र परमार

नृत्य मानव की प्राचीनतम अभिव्यक्ति है। गीत से भी पहले नृत्य का उद्भव हुआ है। मणिपुर में नृत्य के संबंध में एक पौराणिक आख्यान प्रचलित है जिसके अनुसार नौ देवता (लाईबुंगथोउ) पृथ्वी को स्वर्ग से लेकर आए। सात देवियाँ (लाई नुदा) जल पर नृत्य कर रही थीं, उन्होंने उसे पकड़ लिया और उसे जल में फेंक दिया। इस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति हुई, लेकिन पृथ्वी समतल नहीं थी। पृथ्वी को समतल करने के लिए कोमलता के साथ उस पर पैर को घुमाया गया। उसी समय से नृत्य की उत्पत्ति मानी जाती है। मणिपुरी नृत्य के इतिहास को दो भागों में विभक्त कर उसका मूल्यांकन करना चाहिए। प्रथम भाग हिंदुत्व काल से पहले का नृत्य और द्वितीय भाग हिंदुत्व काल का नृत्य। प्रथम भाग में मणिपुरी शास्त्रीय नृत्य की नींव रखी गई थी जबकि दूसरी अवधि में नृत्य का विकास हुआ। मणिपुर के इतिहास के आरंभिक काल में नृत्य, संगीत और धर्म एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। मणिपुर के मैतै समुदाय के नृत्य को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। (1) नृत्य की लाई हराओबा श्रेणी (2) रास नृत्य और (3) मणिपुरी नट संकीर्तन का चोलम स्वरुप। लाई हराओबा श्रेणी को शास्त्रीय नृत्य माना जाए अथवा नहीं, इस विषय पर कलाविदों में मतभेद है। रास श्रेणी के नृत्य को निर्विवाद रूप से शास्त्रीय नृत्य की पुरानी शैली माना जाता है। इसमें राधा और कृष्ण के अलौकिक प्रेम के साथ-साथ गोपियों के उदात्त और पारलौकिक प्रेम और प्रभु की भक्ति को दशार्या जाता है। यह आमतौर पर मंदिर के सामने किया जाता है और दर्शक भक्ति की गहराई में डूबकर इसे देखते हैं। रचना के अनुसार इसका प्रदर्शन एकल, युगल और समूह में किया जा सकता है। नृत्य की इस विशिष्ट शैली में सूक्ष्मता, नवीनता और आकर्षण है। नर्तकों की वेशभूषा का कलात्मक सौंदर्य दर्शकों को अभिभूत कर देता है। मणिपुरी रास एक नृत्य नाटिका उत्सव है जो श्रीकृष्ण की लीलाओं पर आधारित है। यह राधा और वृंदावन की अन्य गोपियों के साथ भगवान कृष्ण का नृत्य उत्सव है। यह श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम के बारे में नृत्य नाटिका (लीला) है जो मणिपुरी वैष्णव की जीवन शैली से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई है। मणिपुरी रास पांच प्रकार के होते हैं- वसंत रास, कुंज रास, महारास, नित्य रास और दिबा रास। भगवान श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का अनुराग लौकिक नहीं बल्कि दिव्य था जैसा कि अपने इष्ट देव के प्रति एक भक्त का होता है। महाभारत के अनुसार यह एक धार्मिक इतिहास है कि श्रीकृष्ण और गोपियों की लीलाएँ वृंदावन में हुईं। वसंतरास श्रीकृष्ण की प्रेम लीला पर आधारित है। इसका आयोजन शाही महल में वसंत पूर्णिमा के दिन किया जाता है। वसंतरास की उत्पत्ति जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' के अलावा ब्रह्मवैवर्त पुराण और पद्मपुराण से मानी जाती है। वसंत के उपलक्ष्य में गोपियों ने श्रीकृष्ण के साथ होली खेली थी। जब श्रीकृष्ण प्रतिद्वंद्वी नायिका चंद्रावली के साथ होली खेलने गए तो राधा इतनी क्रोधित हो गई कि श्रीकृष्ण को उनसे क्षमा मांगनी पड़ी। इस विषय को गीत, नृत्य और अभिनय के माध्यम से विस्तारपूर्वक बताया जाता है। चार घंटे के इस नृत्य-नाट्य को वसंतरास कहते हैं। महारास भागवत पुराण की रसपंचाध्यायी पर आधारित है। भगवान कृष्ण अपने वादे के अनुसार कार्तिक पूर्णिमा की रात को गोपियों के साथ रासलीला करने के लिए नियत स्थल (कुंज) पर पहुँचे। बांसुरी के संगीत से मंत्रमुग्ध होकर राधा और गोपियाँ अपना काम छोड़कर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए निकल गईं। श्रीकृष्ण से मिलने पर राधा और गोपियों का वियोग दुःख दूर हुआ। उन्होंने कृष्ण के साथ नृत्य किया लेकिन शीघ्र ही उनका हर्ष विषाद में बदल गया। जब गोपियों को श्रीकृष्ण के साहचर्य का अभिमान हो गया तब कृष्ण अचानक वहाँ से गायब हो गए। कृष्ण के वियोग से गोपियाँ अत्यंत दुखी हो गईं और वे पशु-पक्षियों से कृष्ण का पता पूछने लगीं। जब वे अत्यंत दीन-हीन व विनम्र होकर श्रीकृष्ण की तलाश करने लगीं और उनका अभिमान दूर हो गया तब श्रीकृष्ण प्रकट हुए लेकिन अब वे अकेले नहीं थे बल्कि उनके साथ असंख्य कृष्ण थे। प्रत्येक गोपी के साथ एक कृष्ण नृत्य करने लगे। कुंज रास महारास लीला का संक्षिप्त रूप है। कुंज रास का प्रदर्शन आश्विन माह (अक्टूबर-नवंबर) की पूर्णिमा को किया जाता है। यह 'गोविंद लीलामृत' पर आधारित है। कुंज रास को महारास लीला का अंग माना जाता है। इसमें 'रस पंचाध्यायी' के पूर्ण पाठ का अभिनय नहीं किया जाता। राजा चंद्रकीर्ति के सहयोग से भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का सार रूप प्रस्तुत करने के लिए नित्य रासलीला (नर्तन रास) की रचना की गई थी। इस लीला के प्रदर्शन के लिए कोई निश्चित ऋतु या विशिष्ट दिन निर्धारित नहीं हैं। इसका किसी भी दिन प्रदर्शन किया जा सकता है। दिबा रासलीला दिन के समय में की जाती है। इसके लिए कोई ऋतु या महीना निश्चित नहीं है। आमतौर पर महल और भगवान गोविंदजी के मंदिर में नित्य और दिबा रास दोनों का प्रदर्शन नहीं किया जाता है। राजा चूराचाँद के शासनकाल में अखम ओजा तोम्बा द्वारा दिबा रास लीला का सृजन किया गया था। नाम के अनुरूप दिबा रास का प्रदर्शन दोपहर में किया जाता है।

नट संकीर्तन-नट संकीर्तन 18 वीं शताब्दी की परिघटना है। इस पर असम के सत्रिय नृत्य और ओजापाली का प्रभाव है। यह बंगाल के नव वैष्णव आंदोलन की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। रासलीला नट संकीर्तन परंपरा का ही

विस्तार है। मणिपुर के राजा चंद्रकीर्ति सिंह (1850-86 ई.) के शासनकाल में नट संकीर्तन का बहुत विकास हुआ जब 32 संकीर्तन सत्रों में 64 रास की प्रस्तुति की गई थी। नट संकीर्तन के दो स्वरुप हैं। सांगीतिक स्वरूप और 'चोलोम' स्वरूप। दोनों स्वरूपों का अपना महत्व है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। 'चोलोम' स्वरूप को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पाला चोलम और पुंग-चोलम। सामूहिक गान का कीर्तन रूप नृत्यि के साथ जुड़ा है जिसे संकीर्तन कहा जाता है। पुरुष नर्तक नृत्यन करते समय पुंग और करताल बजाते हैं। सभी सामाजिक और धार्मिक त्योहारों पर पुंग तथा करताल चोलोम प्रस्तुरत किया जाता है।

लाई-हराओबाः लाई-हराओबा मणिपुर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और रंगीन त्योहार है। लाई-हराओबा को उमंग लाई हराओबा भी कहते हैं। यह एक पारंपरिक मैतै त्योहार है। यह त्योहार सृष्टिकर्ता ईश्वर द्वारा पृथ्वी की रचना और उस पर जीवों के निवास से संबंधित है। किंवदंतियों के अनुसार शुरूआत में 'गुरु सिदबा' सबसे बड़े देवता थे जो घोर अंधकार में रहते थे। वे जिस कमरे में रहते थे वह कमरा एक बार इंद्रधनुष के विभिन्न रंगों से जगमगा उठा। इस घटना से वे सृष्टि के निर्माण के लिए प्रेरित हुए। सृष्टि की पूरी प्रक्रिया का उत्सव मनाने के लिए हर साल लाई-हराओबा त्योहार मनाया जाता है। इसलिए इस त्योहार को सृष्टि की प्रक्रिया का उत्सव कहते हैं। लाई-हराओबा ही नृत्य और लोकगीतों (खुनुंग इसाई) का मूल स्त्रोत है। लाई-हराओबा को सभी मणिपुरी नृत्यों और कुछ स्वदेशी खेलों का उत्स माना जाता है। इस त्योहार का आरंभ ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुआ। उस समय पुष्प, खाद्य पदार्थ आदि अर्पित करना ही मुख्य अनुष्ठान में शामिल था, बाद में इस त्योहार के साथ और अन्य अनुष्ठान और परंपराएं जुड़ गईं। इस त्योहार में उमंग लाई के नाम से जाने जानेवाले 'सिलवन' देवताओं की उपासना की जाती है। इस अवसर पर पुरुषों और महिलाओं द्वारा कई नृत्य प्रस्तुत किए जाते हैं। मोइरांग के शासक देव 'थंगजिंग' के लाई हराओबा सबसे प्रसिद्ध हैं। यह त्योहार मई महीने में आयोजित किया जाता है। यह त्योहार स्थानीय पारंपरिक देवताओं और पूर्वजों के प्रति सम्मान और श्रद्धा व्यक्त करने के लिए मनाया जाता है। इसे देवताओं की उत्सवधर्मिता के रूप में भी जाना जाता है। यह त्योहार ब्रह्मांड के सृजन में भगवान के योगदान की स्मृति में आयोजित किया जाता है, साथ ही यह पेड़-पौधों, जानवरों और मनुष्य के विकास की स्मृति में भी मनाया जाता है। रिवाज के अनुसार इस त्योहार में लोग मूर्तियों के सामने नृत्य करते हैं। वे देवी-देवताओं और अपने पूर्वजों से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। समाज के वृद्ध और जवान सभी अपना पारंपरिक नृत्य करते हैं और गीत गाते हैं। इस अवसर पर नाटक भी प्रस्तुत किया जाता है जिसमें खंबा और थोइबी के जीवन को दशार्या जाता है जो एक लोककथा के नायक-नायिका हैं।

नूपा पाला : नूपा पाला को करताल चोलोम या झांझ नृत्य के रूप में जानते हैं। इस नृत्य का आरम्भ कोमल पद संचालन से होता है और धीरे-धीरे गति तेज होती है। यह पुरुषों का सामूहिक नृत्य प्रदर्शन है जिसमें झांझ का उपयोग होता है और नर्तक दुग्धधवल सफेद गेंद के आकार की बड़ी पगड़ी पहनते हैं। नर्तक मृदंग की संगत में गाते और नृत्य करते हैं। आमतौर पर नुपा पाला रासलीला नृत्य के लिए एक प्रस्तावना या परिचयात्मक नृत्य के रूप में कार्य करता है। इसकी प्रस्तुति स्वतंत्र रूप में भी होती है। यह नृत्य और संगीत की अनूठी मणिपुरी शैली है जहाँ कलाकार पुंग की लय में गाते और नृत्य करते हैं।

खंबा थोइबी नृत्य : खम्बा थोईबी नृत्य पुरुष और महिला का युगल नृत्य है जो सिलवन देवता मोइरांग के थंगजिंग के प्रति समर्पित है। यह माना जाता है कि महान नायक-खंबा और नायिका -थोईबी ने भगवान थांगजिंग से पहले नृत्य किया था। भगवान थांगजिंग मणिपुर के दक्षिण-पश्चिम में स्थित गांव मोइरंग के एक मिथक पुरुष हैं। मोइरंग को समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा के लिए जाना जाता है।

'थांग-ता-ड़थांग-ता' एक मणिपुरी युद्ध कला है जिसका विकास मणिपुर की युद्धक पृष्ठभूमि में हुआ है। कालांतर में 'थांग-ता' मणिपुर की प्रदर्शन कला में शामिल हो गया लेकिन इसका युद्धक चरित्र बरकरार रहा। 'थांग-ता' का उद्भव उस समय हुआ जब मनुष्यं ने जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने के लिए अपनी क्षमता का उपयोग करना आरंभ किया। 'थांग-ता' (तलवार और भाला) आत्मरक्षा करने की कला है जिसकी एक आध्यात्मिक आधारशिला और लंबी ऐतिहासिक परंपरा है। 'थांग-ता' एक प्राचीन मणिपुरी मार्शल आर्ट है जो मणिपुर के युद्ध के माहौल में विकसित हुई है और इसका सृजन मैतै समुदाय द्वारा किया गया है। 'थांग-ता' को ड़ड़ेन लालोंग' के नाम से भी जानते हैं जिसका अर्थ है 'तलवार और भाला की कला'। 'थांग-ता' को तीन अलग-अलग तरीकों से प्रदर्शित किया जाता है। पहला तरीका पूर्णतः आनुष्ठानिक है जो तंत्र साधना से संबंधित है। दूसरे तरीके में तलवार और भाले के साथ नृत्य का प्रदर्शन किया जाता है। तीसरा तरीका वास्तविक लड़ाई की तकनीक है। तलवार और भाला चलाने की यह एक कठिन कला है जो पूर्ण अनुशासन की माँग करता है। इसे सीखने से पहले बच्चों को अपने गुरु के सामने यह शपथ लेनी पड़ती है कि वे दुर्बल और असहाय लोगों की रक्षा करेंगे तथा समाज में न्याय स्थापित करने का प्रयास करेंगे।

मणिपुरी नृत्य में तांडव और लास्य दोनों का समावेश है। यहाँ के नृत्यि की एक दुर्लभ विशेषता इसकी लयात्म कता है। मणिपुरी अभिनय में मुखाभिनय को बहुत ज्यामदा महत्वन नहीं दिया जाता, चेहरे के भाव स्वामभाविक होते हैं। संपूर्ण शरीर का उपयोग एक निश्चित रस को संप्रेषित करने के लिए किया जाता है। आमतौर पर देखा जाता है कि नर्तक एक नाटकीय प्रदर्शन में पैरों से ताल देने के लिए घुंघरू नहीं पहनते। जयदेव द्वारा रचित 'गीत गोविन्दन' की अष्टरपदियां यहाँ बहुत प्रचलित हैं और इन्हें मणिपुर में बहुत उत्साह और समर्पण के साथ गाया जाता है तथा साथ में नृत्य भी किया जाता है। मणिपुर में 29 जनजातियाँ हैं जिनमें से अधिकांश के पास रंगारंग नृत्य की समृद्ध विरासत है। आईमोल, अनल, मोनसंग, चिरु, मोयोन,

कबुई, थंगल, कोम, मरम, वाईफेई, तंगखुल, थडोऊ आदि जनजातियों के लोकनृत्य प्रकृति के अत्यंत निकट हैं। इन सभी आदिवासियों के पास रंगारंग लोकनृत्य की गौरवशाली परंपरा है। कबुई समुदाय के पास लोकनृत्य की समृद्ध विरासत है। इस समुदाय के लोकनृत्य बहुत विकसित हैं। माओ-नागा जनजाति के लोकनृत्यों में उनकी नृत्य प्रतिभा के साथ-साथ उनके रंग समन्वय की झलक मिलती है। कुकी-चीन समूह की जनजातियों के लोकनृत्य के साथ प्रस्तुत मधुर संगीत कर्णप्रिय होते हैं। इन समुदायों में युद्ध नृत्य और अंत्येष्टि नृत्य की परंपरा विद्यमान है जो अन्यत्र दुर्लभ है। मणिपुर के आदिवासी समाज में मृत्यु भी एक उत्सव है और नृत्य शोक प्रकट करने का माध्यम। बांस नृत्य चूराचांदपुर के लुशाई समुदाय का लोकनृत्य है। यह बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। रंग-बिरंगे पारंपरिक परिधानों से सुसज्जित बालिकाओं द्वारा प्रस्तुत बांस नृत्य नयनाभिराम होता है। वाईफेई समुदाय के लोग नृत्य-गीत से बहुत प्रेम करते हैं। नृत्य-गीत उनके उत्सवों-त्योहारों का अभिन्न अंग है। इनकी भाषा में 'लाम' का अर्थ नृत्य होता है। मणिपुर के मोयोन समुदाय के पास लोकनृत्यों के अनेक रूप मिलते हैं। अपने पारंपरिक परिधान को धारणकर अलग-अलग पंक्तियों में महिला और पुरुष जब नृत्य करते हैं तो अद्भुत दृश्य उपस्थित हो जाता है।

▲▲▲

संपर्क : वीरेन्द्र परमार
गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

पूर्वोत्तर भारत के समकालीन साहित्य में नारी संवेदना

रोजी कामेई

जब हम पूर्वोत्तर भारत की बात करते हैं तो पूर्वोत्तर को लेकर साहित्य की बहुत अधिक रुचि हमें दिखाई नहीं देती है। यहाँ साहित्य से अभिप्राय 'हिंदी साहित्य' से है। हिंदी में पूर्वोत्तर से संबंधित साहित्य भी बहुत नहीं लिखा गया है और हमें जितनी लिखी हुई सामग्री प्राप्त होती है वह अधिकांश पूर्वोत्तर के बाहर के लोगों द्वारा लिखी गई है। उनमें नारी संवेदना की अभिव्यक्ति न के बराबर ही मिलती है। आदिवासी स्त्री को रूमानियत के संदर्भ में दिखाने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है, पर उस साहित्य को भी 'हिंदी साहित्य' ने कितना अपनाया यह अलग विषय है। पूर्वोत्तर के सभी साहित्यकार या तो अंग्रेजी में लिखते हैं या अपनी मातृभाषा में। उस समय तक कुछ गिने-चुने लोग ही हिंदी में लिखते थे। पूर्वोत्तर के साहित्यकारों द्वारा ड़हिंदी साहित्य' में अपना स्थान नहीं बना पाने का यह एक प्रमुख कारण भी रहा है। अब इस स्थिति में बदलाव जरूर आ रहा है क्योंकि अब पूर्वोत्तर के लोगों द्वारा हिंदी में भी साहित्य रचा जाने लगा है। उसी श्रृंखला में है अरुणाचल प्रदेश की तुम्बम रीबा जोमो 'लिली' का 'उस रात की सुबह' उपन्यास, जोराम यालाम का 'साक्षी है पीपल' कहानी-संग्रह एवं मोर्जुम लोयी का ड़मिनाम' उपन्यास हैं, जो वहाँ के आदिवासी समाज की पृष्ठभूमि पर लिखी गई रचनाएं हैं।

उपन्यास एवं कहानी-संग्रह में हर स्त्री पात्र की अपनी अलग-अलग भूमिका और चरित्र है। बावजूद इसके सभी पात्र लगभग एक ही समस्या की 'परिधि' में कैद नजर आते हैं। पुरुष का अहम, उसका वर्चस्व, स्त्री के अस्तित्व को हर बार चोट पहुँचाने की प्रक्रिया से हम बार-बार गुजरते हैं। स्त्री और पुरुष का भेद समाज में इतना विस्तार पा चुका है कि 'कोबा' यानी सीढ़ियाँ भी दो तरह की बनाई जाती हैं। 'यहाँ औरत और मर्द के लिए अलग-अलग सीढ़ियाँ यानी कोबा है।' स्त्री और पुरुष का यह अंतर घर से ही होता हुआ समाज में मान्यता प्राप्त करता है। 'कन्या मूल्य' नहीं चुका पाने की स्थिति सबकी एक जैसी ही है। 'कन्या मूल्य' अरुणाचली समाज में शादी तय हो जाने के बाद लड़के वालों के द्वारा लड़की के बदले में मिथुन देने की परंपरा है। जिसमें लड़की वाले तय करते हैं कि उन्हें कितना मिथुन चाहिए। दोनों परिवारों की सहमति के आधार पर ही 'कन्या मूल्य' तय किया जाता है। उत्तर भारत की 'दहेज' लेने की प्रथा से एकदम उलट यहाँ 'कन्या मूल्य' देने की परंपरा है। इन्हीं पर केंद्रित 'नारी संवेदना' पर मैं अपनी बात रखूँगी।

समाज एक दिन की उपज नहीं होता। उसके विकास और लंबे संघर्ष का इतिहास प्रत्येक समाज में दर्ज होता चलता है। जिसके पश्चात ही वह एक 'व्यवस्थित समाज' का रूप प्राप्त करता है। इन लंबी यात्राओं के दौरान 'व्यवस्थित समाज' हेतु वह अपने समाज में कई नीति-नियम एवं कानून बनाता है और यही नीति-नियम, कानून बाद में धीरे-धीरे रीति-रिवाज, परंपराओं का स्वरुप प्राप्त कर लेता है। हर समाज की अपनी कई मान्यताएँ भी होती हैं जो समय के साथ निर्धारित होती चलती हैं। इन रीति-रिवाजों, मान्यताओं एवं परंपराओं में आज भी बहुत बदलाव संभव नहीं होता है परंतु कुछ बदलाव समय की माँग के साथ भी होते रहे हैं। कहा जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिंब है। अतः साहित्य रूपी दर्पण में हम समाज के प्रतिबिंब को देख सकते हैं। साहित्य के माध्यम से ही संपूर्ण जीवन को समझा जा सकता है। साहित्य मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कलाओं का साकार रूप है। साहित्य में ही मानव-हृदय को प्रभावित करने की सबसे अधिक शक्ति होती है। साहित्यकार जिस साहित्य की रचना करता है उसकी जड़ें समाज से ही विषय-वस्तु प्राप्त करती हैं और उसी में गहरी जुड़ी होती हैं। वह अपने समाज की परिस्थितियों में ही जीता है और समाज में जो भी परिवर्तन होते हैं उन्हें देखता है, भोगता है, उनसे ही प्रभावित होता है।

उपन्यास एवं कहानी-संग्रह तीनों के कथा केंद्र में 'स्त्री' है। नारी संवेदना के अलग-अलग पक्ष हर पात्र में मुखर रूप से उभरकर आये हैं। संवेदना के पक्ष भले ही अलग-अलग नजर आएं परंतु सभी पात्रों की समस्या एक जैसी ही दिखती है। प्रत्येक स्त्री समाज की परंपराओं में बंधी 'आदर्श पत्नी' बन अपना कर्तव्य निर्वाह करती जान पड़ती है। उसकी निरर्थकता का एहसास हर बार पति, समाज द्वारा करा दिए जाने के पश्चात भी स्त्री का चुपचाप अपना घर संभालने को ज्यादा तवज्जो देने की अहमियत प्रत्यक्ष दिखाई देती है। समाज की परंपराओं से नहीं लड़ पाने की मजबूरी में उपजी अनेकों पीड़ाओं के बीच स्त्री का बलिदान, उसकी सहनशीलता, उसका मौन पाठकों को आवाज देता तो रहता है परंतु वह आवाज भीतर ही दबी रह जाती है। उनसे बाहर निकलने की चाह हर बार दफन हो जाती। प्रत्येक पात्र 'कन्या मूल्य' नहीं चुका पाने की स्थिति से हमें जूझती नजर आती है। 'लड़के वालों से बीस मिथुन लिए जा चुके थे। माँ-बाप के बिना उन्हें चुकता करना असंभव था।' माता-पिता की मृत्यु के पश्चात इसी मजबूरी के आमीन तादर से शादी कर लेती है और बाद में यही मजबूरी जीवन में बहुत गंभीर समस्या का रूप ले लेती है। ''बहुत गुस्सा आ रहा था पिताजी पर कि उन्होंने दस मिथुन में मुझे बेच दिया था।

उनको वापस करने के लिए तो मुझे धनी व्यक्ति का ही सहारा लेना था। उसके लिए चाहे मुझे किसी की तीसरी तो क्या चौथी बीबी भी क्यों न बनना पड़ता।''

गरीबी के बोझ तले एक शादी से निकलने के लिए ऐसा निर्णय कितनी ही स्त्रियों को लेना पड़ा होगा। यहीं से समस्याएँ बढ़नी शुरू हो जाती हैं। इस समस्या की जड़ें यहीं से विस्तार पाती हैं।

'बहुविवाह' जैसी प्रथा के बारे में हम केरल और हिमाचल के कुछ एक स्थानों के संदर्भ में ही सुनते हैं। आमतौर पर भारत के अन्य राज्यों एवं स्थानों में इस प्रथा के बारे में सुनने को नहीं मिलता। खासतौर पर हम जब आदिवासी समाज की बात करते हैं। आदिवासी समाज एवं महिलाओं की जब भी चर्चा होती है उनके संदर्भ में यही कहा जाता है कि आदिवासी महिलाएँ दुनिया की सबसे आजाद महिलाओं में से एक हैं। अन्य समाज की महिलाओं की अपेक्षा उन्हें ज्यादा आजादी मिली हुई है। कुछ हद तक इस बात को नकारा भी नहीं जा सकता परंतु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि खासी समाज को छोड़कर पूर्वोत्तर का पूरा आदिवासी समाज पितृसत्तात्मक समाज पर आधारित समाज है। उपन्यास की नायिका मिनाम बारहवीं पास कर अपनी मर्जी से प्रेम विवाह कर लेती है। परंतु विवाह पश्चात उसे महसूस होता है कि 'प्रेम विवाह' कल्पनाओं में ही अच्छा लगता है। पति उसको मारता, पीटता, दिन-रात उस पर अत्याचार करता। बेटी के जन्म के बाद उसे लगता है कि खुशियाँ फिर वापस लौट आई हैं पर इन खुशियों का भ्रम भी जल्दी ही टूटता है जब उसका पति शादी कर दूसरी बीबी ले आता है। जब सारे अधिकार पुरुषों के ही हिस्से हैं फिर लैंगिक समानता किस आधार पर तय होगी?

मेघालय का खासी समाज 'मातृसत्तात्मक' समाज है परंतु यह शोध का विषय है कि मातृसत्तात्मक समाज में 'पावर' और 'सत्ता' किसके हाथ में है? इसके साथ-साथ विचारणीय बिंदु यह भी है कि जब हम आदिवासी समाजों में समानता की बात करते हैं तो उसमें लैंगिक समानता की उपस्थिति किस प्रकार है? इसको हमें बारीकी से देखने की जरूरत है। कबा-देर, पंचायत घर जहाँ पर गाँव और जन समुदाय से जुड़े तमाम मुद्दों, मसलों और विवादों पर गाँव की पंचायत और बड़े-बूढ़े मिलकर चिंतन-मनन करके उस पर कई तरह विचार-विमर्श करते हैं। हर गाँव में प्रशासनिक सुविधा के लिए इस तरह की प्रशासनिक व्यवस्था बनी हुई है। गाँव वालों के द्वारा चुने गये प्रतिनिधि को ही गाँव प्रमुख या हैड गाम की उपाधि दी जाती है। अरुणाचल में 'नेप्प न्यिदा' की प्रथा थी। 'नेप्प न्यिदा' माने पैदा होने से पहले गर्भ में ही बड़े-बूढ़ों के द्वारा शादी तय कर दी जाती थी। इस तरह की जबरदस्ती वाली न्यिदा में न सिर्फ स्त्रियों को ही कष्ट भोगना पड़ता था बल्कि पुरुष भी इस तरह के बेमेल विवाह का अंजाम भोगते थे क्योंकि स्त्री के गर्भ में पल रहे शिशु के साथ न्यिदा तो हो जाती है परंतु यदि वह लड़की पैदा हो जाती है तो लड़के के पैदा होने तक इंतजार करना पड़ता है। अतः जब लड़का पैदा होगा तभी उस स्त्री के साथ शादी हो जाएगी। पर इन सारे कष्टों के बीच भी पुरुषों के पास इस समस्या का हल होता है। वे आगे चलकर अपनी पसंद की लड़की से दूसरी शादी कर लेते हैं। 'उसका नाम यापी था' एक ऐसी स्त्री की कहानी है जिसकी शादी बचपन में ही तारो नाम के लड़के से तय कर दी जाती है और वही उसका होने वाला पति शादी से पहले उसकी इज्जत लूट लेता है। बाद में वह किसी और लड़की से शादी कर घर ले आता है। गाँव में तीन-चार मर्दों को छोड़कर सभी दो, तीन बीबियां रखते हैं। यह उनकी प्रतिष्ठा का प्रतीक था। पुरुष का वर्चस्व हर तरह से स्त्री के अस्तित्व को दबा देना चाहता है। गाँव में कुछ पुरुषों की प्रवृत्ति ऐसी भी है जो यह सोचते हैं कि पढ़ाई करके क्या करना है। ''पोरके क्या कोरेगा? नो को (तुमको) मालूम नाई है क्या? मेरा आबो इस बोस्ती (बस्ती) का सबसे धनी आदमी है? हम तो बोस्ती में कोई दोस्त नाई है बोलके स्कूल आता है (मुझे पढ़ाई करने की क्या जरूरत है?'' यह एक बच्चे का नहीं एक पुरुष का अहम बोल रहा था, जो यह समझता है कि सारे अधिकार उसके पास हैं। पैसे के बल पर वह कुछ भी कर सकता है। पुरुष के वर्चस्व का संघर्ष यहीं से शुरू होता है।

'मिनाम' उपन्यास में यामी जो पेशे से एक शिक्षिका होती है। पुरुष का अहम कैसे एक स्त्री को असहाय और बेबस बनाता है उपन्यास में यामी उसी का एक ज्वलंत उदाहरण है। कक्षा में पूछे गए सवाल का जवाब नहीं दे पाने पर यामी तातुम को सबके सामने मुर्गा बनने को कहती है। इसके विपरीत सबके सामने मुर्गा बनाने का अपमान उसे इतना नागवार लग जाता है कि घर आकर वह अपने पिताजी से कहता है,'आबो, हम नाई पोरेगा (अब से मैं पढ़ाई नहीं करूँगा), हम शादी करेगा, उस मैडम से ही शादी करेगा (मुझे शादी करनी है... उसी टीचर से)। उसने मुझे सबके सामने इन्सल्ट (जलील) किया। मिथुन काटो।''अगले दिन यामी को ड़लेपा लिंनाम' के तहत स्कूल से जबरदस्ती उठवाकर तातुम के साथ उसकी शादी कर देते हैं। ''प्राचीन काल में किसी लड़की की मर्जी के बगैर उसकी शादी तय कर दी जाती थी, इन्कार करने पर उसे जबरन उठवाकर कमरे में पुरुष के साथ हाथ-पैर बांधकर भूखे-प्यासे बंद कर दिया जाता था। यह तब तक चलता जब तक भूखी-प्यासी लड़की आत्म-समर्पण न कर दे। कई हालात में उसे बलात्कार जैसे जघन्य अपराध का भी शिकार होना पड़ता था। यह सिलसिला तब तक चलता जब तक लड़की गर्भवती न हो जाती।'' अन्य समाज में इसे लाफिया, लिफा के नाम से भी जानते हैं। अब यह प्रथा वक़्त के साथ कम होती चली गई है।

स्त्रियाँ अपने हालातों से समझौता कर लेती हैं या उन्हें परिस्थितिवश मजबूरन समझौता करना ही पड़ता है। परंपराओं के अनुसार शादी के लिए कन्या मूल्य के रूप में दिए गए मिथुन लौटाना अत्यंत ही अशुभ माना जाता है। ड़उस रात की सुबह' उपन्यास की नायिका यापी को भी सिर्फ दस मिथुनों के बदले बलि का बकरा बना दिया गया था। वह स्वयं से ही सवाल करती है, ''मिथुन क्या स्त्री का मूल्य सिर्फ दस मिथुन ही होता है? क्या स्त्री का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता? क्या स्त्री और मिथुन में कोई अंतर नहीं होता?'' यही प्रथा यापी के जीवन को भी पूरी तरह प्रभावित

करती है क्योंकि 'नेप्प न्यिदा' तातो के साथ उसकी बुआ का तय हुआ था परंतु शादी के एक साल बाद बुआ की मृत्यु ने बिना यापी की सहमति से कबा-देर उन दोनों की शादी तय कर देता है। समय बीतता जाता है फिर तातो की भी मृत्यु हो जाती है। एक बार फिर यापी की जिंदगी का फैसला कबा-देर को लेना था। कबा का फैसला हो चुका था कि पैंतालीस पार कर चुके दिवंगत तातो के छोटे भाई तादाप के साथ यापी का विवाह करा दिया जाए। इस प्रकार यापी की सहमति के बिना निर्णय पर निर्णय कबा के द्वारा तुरंत ले लिए जाते हैं। तातो की मृत्यु के बाद तादाप हर प्रकार से यापी को हथियाना चाहता है। घर पर पहले ही उसकी दो बीवी हैं। बावजूद इसके वह हर संभव यापी को अपनी बीबी बनाना चाहता है। परंपरा की आड़ में कबा-देर फैसला उसके पक्ष में ही सुनाता है। और यहाँ संदर्भ आता है उस शख्स का जो पारंपरिक रीति-रिवाजों की आड़ में छलपूर्वक अपने से उम्र में दुगुनी छोटी और या कहूँ कि अपनी बेटी की उम्र से भी छोटी यापी को हथियाने में लगे हुए हैं। उस पर उसके चेहरे पर छाई हुई जीत की खुशी में वह किसी शैतान से कम नहीं दिख रहा था यापी को। जैसे कोई बहेलिया अपने बिछाई हुई जाल में फँसे पंछी को देख शैतानी मुस्कान बिखेरता है, ठीक वैसा ही दिख रहा था तादाप।" समाज के इन्हीं नियम-नीतियों की आड़ में कितनी ही महिलाएँ निरीह पशुओं की तरह एक खूँटे से दूसरे खूँटे बाँधी जाती रही हैं। कितनी ही महिलाएँ इस परंपरा की आड़ में छली जाती रही हैं।

'बहुविवाह' जैसी प्रथा जहाँ समाज में एक से अधिक विवाह करने को संपन्नता का प्रतीक माना गया है। उस समाज में महिलाएँ दोयम दर्जे से भी नीचे की श्रेणी में आ जाती हैं। इस प्रथा की 'स्वीकार्यता' की परंपरा बाद में महिलाओं के लिए ही मजबूरी बनती चली गई। इस परंपरा को एकदम खारिज नहीं किया जा सकता था क्योंकि यह उस समय समाज की माँग थी। ''मेरे पिताजी की सबसे छोटी पत्नी है वह। मेरी ही उम्र की क्योंकि पिताजी की पहले से चार पत्नियाँ हैं इसलिए सबसे छोटी पर ज्यादा ध्यान नहीं दे पाते। वह मुझसे जबरदस्ती करने लगी। पिताजी को जब पता चला तो उन्होंने कहा कि रख लो कोई हर्ज नहीं।'' इस सच्चाई को स्वीकार करने के पश्चात भी आमीन तादर की आदर्श पत्नी बनी रहना चाहती थी। एक दिन छोटी माँ उस पर सोते हुए पेशाब कर देती है। उसका पति इसके विरोध में एक शब्द नहीं बोल पाता। ''छोटी माँ को रखा तो ठीक है लेकिन अपनी पत्नी का इतना अपमान देखकर चुप रहना, कैसी बेशर्मी है। माता सूर्य ही साक्षी है।'' आए दिन घर पर ससुर की पाँचवीं पत्नी की वजह से कलह और पति की कायरता आमीन को पूरी तरह तोड़ देती है।

गरीब महिलाओं को इस परंपरा के आधार पर एक अमीर पुरुष का सहारा एवं आधार मिल जाता था जिसका भरण-पोषण का जिम्मा पुरुष के पास होता था। इस प्रथा के अंतर्गत पुरुष समाज ने स्त्री को अधीनस्थ करना शुरू किया और अपनी वंश-वृद्धि करता रहा। उसने यह स्थापित कर दिया कि पुरुष उत्पन्न करता है और औरत मात्र पोषण करती है। ''पुरुष ने औरत के लिए एक दुनिया बनाने का अधिकार अपने पास रखा। उसने औरत की एक ऐसी अंतरवर्ती दुनिया बनाई, जिसमें उसको हमेशा के लिए कैद कर दिया। किंतु कोई भी अस्तित्व सदा सीमा-बद्ध नहीं रह सकता। समर्पित होने के बावजूद औरत आज चाहती है कि वह इस जैविक-स्तर से ऊपर उठे, अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करें'' और आज यही समय की माँग है कि हम अपने अधिकार एवं हक के लिए आवाज उठाएं।

आस्थाओं एवं परंपराओं के नाम पर हमें प्रताड़ित किया जाए तो हम उसका विरोध जरूर करें। परंपराओं में बदलाव आज समय की माँग है। हम स्त्रियाँ दुनिया की आधी आबादी कहलाती जरूर हैं पर समाज के बने बनाए नियम उसे हर बार हाशिए पर ला खड़ा करते हैं। अपने उपन्यास में तुम्बम रीबा जोमो ड़लिली' ने यह सहर्ष स्वीकार किया है कि, ''सदियों से समाज में लोगों ने नारी को कमजोर वर्ग में आँका है और हमारा पूर्वोत्तर भारत के हिमालयी क्षेत्रों के अरुणाचल प्रदेश में भी लगभग यही स्वर गूँजता है। फिर भी इतिहास गवाह है कि नारी ने इन दुर्गम पर्वतों को अपने मेहनत और लगन के बलबूते पर अपने आशियाने का रूप देकर अपने कोमल हाथों से अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए कभी जंगलों से खाद्यान्न जुटाकर तो कभी खेतों में काम करके मुस्कुराते हुए सदैव जूझती आई है।'' यहाँ महिलाओं के पास 'चोइस' का विकल्प ही नहीं होता था। क्योंकि 'चोइस' का विकल्प सिर्फ और सिर्फ पुरुष के पास होता है। समाज में पुरुष के लिए एक से अधिक विवाह समृद्धि और संपन्नता के पर्याय के रूप में स्थापित है। किसे परवाह कि एक ही छत के नीचे अपने पति को दूसरी स्त्रियों के साथ साझा होते देख एक पत्नी की नहीं बल्कि सभी पत्नियों की मनःस्थिति क्या रहती होगी। बेशक ऐसी स्थिति में स्त्री एक दूसरे की दुश्मन बन बैठती होगी। 'नदी' कहानी में तारींग की दोनों बीबियाँ साल भर एक दूसरे से ईर्ष्या और जलन के साथ चलती रहीं। ''कई अनुभवी मर्दों ने तारींग को सुझाव देना शुरू कर दिया कि दो में शांति कभीं नहीं रहती। तीसरी कर लेना चाहिए। दो लड़ती रहें, तो तीसरी के साथ मजे ले लो।'' यह सुझाव कभी भी इस समस्या का हल नहीं हो सकता। यही स्थिति और समस्या उपन्यास में भी चित्रित हुआ है। तादाप के द्वारा यापी को जबरदस्ती अपनी बीबी बनाने के फलस्वरूप उसके घर में मौजूद दोनों बीबियों के बीच कलह पैदा होना भी स्वाभाविक था। कटु सत्य यह है कि कोई भी स्त्री अपने अलावा दूसरी या तीसरी बीबी को अपनाने की स्थिति में नहीं होती।

इसके इतर 'नदी' कहानी में ही पुदुंग का पति तारींग जब अपनी दूसरी बीबी के साथ शहर चला जाता है तो घर पर अकेली रह जाती पुदुंग को उसके सास-ससुर उसके छोटे देवर के साथ रहने का दबाव डालते हैं। जिस देवर को उसने अपने कंधों पर चढ़ाया, गोदी में खिलाया जिसने उसे आदर-सम्मान के साथ कभी माँ के समान देखा था। यह बहुत ही अजीब सी स्थिति थी जिस स्थिति को पुदुंग ने कभी स्वीकार भी नहीं किया। 'न्यामे गिनाम' अरुणाचल में गालो जनजाति की एक अनोखी किस्म की प्रथा है। इस प्रथा के अंतर्गत पति के भाइयों के साथ पत्नी को पत्नी धर्म निभाना होता है। ''प्राचीनकाल में यह प्रथा इसलिए अपनाई गई

ताकि माता-पिता शादी के अनावश्यक बोझ से बच सकें। यही नहीं, संपत्ति का भी बँटवारा नहीं होगा।'' एक तरफ इस परंपरा का पालन नहीं करने पर स्त्री को अपने भाइयों (देवर) की सही से देखभाल नहीं करने के ताने दिए जाते, वहीं दूसरी तरफ इस परंपरा का पालन करने पर कुछ ईर्ष्यालु पति द्वारा पत्नी को 'बदचलन औरत' की उपाधि दे दी जाती है। स्त्री की मर्जी के बिना ही नियम भी बनता है और उसी नियम के आधार पर उसको प्रताड़ित भी किया जाता है। 'मिनाम' उपन्यास आदिवासी स्त्री संघर्ष की कथा है, जिसके माध्यम से बहुत ही बेबाकी के साथ अपनी शब्दों को मोर्जुम लोयी ने आवाज दी है। उपन्यास में लोकतत्व को बखूबी स्थान मिला है। लोक भाषा ने उपन्यास की शोभा बढ़ा दी है। लेखिका ने न्गिम लाबोनाम (बहु-विवाह), नेप्प न्यिदा (बाल-विवाह), न्यामे गिनाम इत्यादि परंपराओं को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। साथ ही बेटियों को पढ़ाने के मजबूत पक्ष में खड़ी दिखती हैं। यही शिक्षा भविष्य में उनकी आवाज बनेगी इस बात को लेखिका बखूबी जानती है।

मजबूरी एक ऐसी स्थिति है जिसमें सब बिना कुछ कहे मंजूर होता चला जाता है चुपचाप। त्याग और समर्पण की प्रक्रिया यहीं से शुरू होती है और अनवरत चलती है। मोर्जुम लोयी मिनाम के माध्यम से यह संदेश देती है कि त्याग और समर्पण के नाम पर हार मान लेना इस समस्या का हल नहीं है। मात्र बारहवीं पास मिनाम अपने पति से तलाक लेकर जब अपने घर वापस आ जाती है। उसका भाई उसको आगे पढ़ने के लिए प्रेरित करता है। दुःख से उबरने की प्रेरणा से मिनाम जल्दी ही असिस्टेंट प्रोफेसर तक का सफर तय कर लेती है। आत्मनिर्भरता ही सशक्तिकरण की सबसे पहली सीढ़ी है। यह सच है कि समाज में पुरानी घिसी-पीटी ढकोसले भरी गलत आस्थाओं को सामाजिक नियम एवं पारंपरिक रीति-रिवाजों का हवाला देकर स्त्रियों पर लादते हुए उन्हें प्रताड़ित करना उचित नहीं है। आज समय के साथ स्थिति में कुछ बदलाव जरूर हुआ है। आधुनिक समय में अरुणाचल के आदिवासी समाज में इस तरह की सामाजिक कुरीतियाँ लगभग खत्म सी हो गई हैं फिर भी कहीं-कहीं दूर दराज इलाके में जहाँ शिक्षा का प्रचार-प्रसार नहीं हुआ है वहाँ आज भी प्रथा की आड़ में कोई न कोई लड़की प्रताड़ित होती होगी। तुम्बम रीबा जोमो ड़लिली' अपनी पीड़ा उपन्यास में इस तरह से दर्ज करती है कि ''दुनिया में हर तरफ नारी-सशक्तिकरण का बोलबाला है। ऐसे में बहुत ही लज्जाजनक मानसिकता है हमारी कि हम आज भी इन्हें कुछ मिथुनों के बदले अपना जर-खरीद गुलाम की तरह मानते हैं।'' हमें आज ऐसे पूर्वाग्रह से बचने की जरूरत है। फिर इन पूर्वाग्रह से ग्रसित समाज में आदिवासी महिलाओं को किस तर्ज पर ड़आजाद' की परिधि में परिभाषित किया जा सकता है ? जागरूकता के साथ मानसिकता भी बदलनी पड़ेगी।

तुम्बम रीबा जोमो ड़लिली' की लिखी ड़उस रात की सुबह', जोराम यालम के कहानी-संग्रह ड़साक्षी है पीपल' एवं मोर्जुम लोयी का उपन्यास ड़मिनाम' तीनों ही अरुणाचल की पृष्ठभूमि में नारी संवेदना पर आधारित पूर्वोत्तर का समकालीन साहित्य है। जो अरुणाचल प्रदेश के आदिवासी समाज की सामाजिक और सांस्कृतिक झाँकियाँ प्रस्तुत करता है। जिनमें विशेषकर वहाँ की स्त्रियों की स्थिति एवं मनोदशाओं को हम करीब से महसूस कर पाते हैं। कथा के केंद्र में यापी, यासो, आमीन, पुदुंग, यामी, मिनाम कितनी ही स्त्रियाँ हैं। इनके माध्यम से तीनों लेखिका ने उन तमाम लाचार नारियों की पीड़ाओं एवं उनके दर्द को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो सदियों से समाज द्वारा बनाए गए नियमों को चुपचाप स्वीकार कर बस सहती ही जा रही है। जोराम यालाम के अनुसार स्त्रियों के साथ जो अन्याय हुआ उसकी साक्षी माता सूर्य है परंतु इसके साथ पीपल का विराट वृक्ष (एक बिंब है) भी साक्षी है जो सदियों से समाज में एक वर्ग-सा साक्षात खड़ा है। यह अन्य पेड़ों की हत्या भी करता है, उसी को खाकर जिंदा रहता है। उसकी जड़ें जमीन के भीतर अन्य वृक्ष और पेड़-पौधों का भोजन भी छीन लेती हैं जो सामान्यतः हमें दिखाई नहीं देती। समाज का न्याय और अन्याय इसी के सामने होता रहा फिर भी यह खामोश है। यह एक सामूहिक खामोशी है। एक अपराध है। एक वृक्ष में बसने वाले जीवों को भी एक-दूसरे के प्रति अपराध करता देख यह चुप है। ये भयग्रस्त लोग हैं। फिर भी विडंबना यही कि इसी का सम्मान है। जब समाज के नाम पर व्यक्ति की हत्या होती है तब क्या कहानियाँ नहीं कही जानी चाहिए ? बेशक कही जानी चाहिए।

स्त्री की सारी संवेदनाएं समाज के बनाए नियमों, परंपराओं के आगे ध्वस्त होती प्रतीत होती हैं। तीनों लेखिका अपने पात्रों के साथ कुछ हद तक न्याय करने का प्रयास भी करती नजर आती हैं जिसमें बहुत सफलता मिलती हमें नहीं दिखती। साथ ही उन पक्षपात भरी सामाजिक व्यवस्थाओं का भी खंडन कर समय के साथ उन सभी में परिवर्तन की माँग भी करती है जो रीति-रिवाजों एवं परंपराओं का हवाला देकर पुरानी घिसी-पिटी आस्थाओं में वहाँ की स्त्रियों को बांधे हुए है। ऐसे ही उपन्यास का कथा नायक 'तामार' उपन्यास के अंत में एक प्रभावी चरित्र मंय उभरकर आता है जो समाज में परिवर्तन चाहता है। ''हमें अपनी ऐसी पुरानी और घिनौनी मानसिकता और रीति-रिवाजों को बढ़ावा नहीं देना चाहिए, इन्हें हमेशा के लिए खत्म कर देना चाहिए। हमें अपने परम्परा के नाम पर ऐसी दकियानूसी रीति-रिवाज नहीं चाहिए।'' इसी तरह ड़यासो' कहानी की नायिका भी कहती है कि ''तुम लोग पढ़े-लिखे हो, एक से अधिक विवाह मत करना।'' हमें यह पता होना चाहिए कि समाज में सकारात्मक बदलाव के साथ-साथ मानसिकता में भी बदलाव जरूरी है। तीनों ने ही समय के साथ बदलाव की जरूरत को अनिवार्य बताया है। बदलाव जरूरी है समय और परिस्थिति के जरूरत के परिप्रेक्ष्य में।

निष्कर्ष के तौर पर सामाजिक कुरीति जैसे बहुविवाह, बाल-विवाह, बेमेल विवाह की हिस्सा बनती स्त्रियों के दुःख, दर्द और पीड़ा को अभिव्यक्त करती तीनों लेखिकाएं उन असहाय तमाम स्त्रियों की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति एवं उनकी आवाज बनकर उभरती है जो परंपराओं के नाम पर सदियों से छली जाती रही जिनके साथ अन्याय होता रहा। स्त्री के संघर्ष को परम्पराओं के बीच कभी

न्याय नहीं मिल पाया। ड़कन्या मूल्य' नहीं चुका पाने की मजबूरी उनके जीवन के साथ-साथ चलती रही और जीवन में 'बहुविवाह' जैसी प्रथा की अभिन्न अंग बनती रही।

संभवतः किसी भी काल का साहित्य उस समाज को जागरूक बनाने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बदलते युग की तस्वीर भी साहित्य के माध्यम से ही देखी जा सकती है। समय के साथ-साथ समाज की विचारधारा, रहन-सहन, संस्कृति और परम्पराओं में परिवर्तन होता रहा है और यही परिवर्तन समय के साथ-साथ साहित्य में भी परिलक्षित होता रहा है। साहित्य में मनुष्य की विचारधारा बदलने की भी क्षमता होती है। वस्तुतः साहित्य समाज से पूर्णतः प्रभावित होता है। इसी बदलाव में एक उम्मीद यह भी कि 'हिंदी साहित्य' भी पूर्वोत्तर के साहित्य को अपनाकर उसे उचित स्थान प्रदान करेगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. लोयी, मोर्जुम, (2020), मिनाम, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 26

2. यालाम, जोराम, (2019), साक्षी है पीपल, दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स, पृ. 89

3. यालाम, जोराम, (2019), साक्षी है पीपल, दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स, पृ. 51

4. लोयी, मोर्जुम, (2020), मिनाम, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 40

5. लोयी, मोर्जुम, (2020), मिनाम, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 41

6. लोयी, मोर्जुम, (2020), मिनाम, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 42

7. जोमो, रीबा तुम्बम, (2018), उस रात की सुबह, दिल्ली : पृथ्वी प्रकाशन, पृ. 63

8. जोमो, रीबा तुम्बम, (2018), उस रात की सुबह, दिल्ली : पृथ्वी प्रकाशन, पृ. 112

9. यालाम, जोराम, (2019), साक्षी है पीपल, दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स, पृ. 68

10. यालाम, जोराम, (2019), साक्षी है पीपल, दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स, पृ. 70

11. सिंह, श्रद्धा, (2010), आधी आबादी संदर्भ एवं प्रसंग, दिल्ली : कला मंदिर प्रकाशन, पृ. 17

12. जोमो, रीबा तुम्बम, (2018), उस रात की सुबह, दिल्ली : पृथ्वी प्रकाशन, पृ. 101

13. यालाम, जोराम, (2019), साक्षी है पीपल, दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स, पृ. 99

14. लोयी, मोर्जुम, (2020), मिनाम, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 91

15. जोमो, रीबा तुम्बम, (2018), उस रात की सुबह, दिल्ली : पृथ्वी प्रकाशन, पृ. 117

16. जोमो, रीबा तुम्बम, (2018), उस रात की सुबह, दिल्ली : पृथ्वी प्रकाशन, पृ. 117

17. यालाम, जोराम, (2019), साक्षी है पीपल, दिल्ली : अनुज्ञा बुक्स, पृ. 53

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली

तानी कथाएं

जोराम यालाम नाबाम

अरुणाचल प्रदेश की सौ से अधिक जनजातियों में से पाँच बहुत बड़ी जनजातियाँ- न्यीशी, आदी, गालो, तागिन तथा आबोतानी एक ऐसे वृहद समूह के अंतर्गत आती हैं जिसमें प्रदेश की आधी से अधिक आबादी समाहित है। इसे तानी समूह भी कुछ लोग पहचान के लिए कह देते हैं। इन सबकी भाषा, संस्कृति, सामाजिक जीवन और मान्यताएँ अलग होते हुए भी उनमें परस्पर काफी समानता है। आबोतानी के बारे में लोगों को बहुत कम जानकारी है, जो कि इन सबके यहाँ पूर्वज माने जाते हैं। इसीलिए इन्हें तानी-परिवार या तानी वंश कहा जाता है। आबोतानी ने इस वृहत्तर समाज की मान्यताओं पर गहरा प्रभाव डाला है। उनसे संबंधित बहुत-सी कथा-कहानियाँ इन जनजातियों में प्रचलित हैं। कुछ लोक कथाएं निम्नलिखित हैं-

1- बेप्प रुक-सिब्ब गाक

उत्पाती, झगड़ालू, चोर, लुटेरे किस्म के स्वभाव वाले लोगों को 'बेप्प रुक-सिब्ब गाक' कहा जाता है। बेप्प का अर्थ है- बंदरों सा स्वभाव। 'गाक' का अर्थ है- षड्यंत्रकारी। सौंदर्य के प्रति आबोतानी की दृष्टि सबसे भिन्न थी। वह रूप-अरूप के हिसाब-किताब में पढ़ते नहीं थे। पत्नी के रूप में एक परम मित्र की तलाश थी और इसमें बाहरी रूप का महत्व कम हो जाता है। कहते हैं, एक मित्र की मदद से उनको 'बेप्प' समुदाय की एक पत्नी मिली। बंदर जैसी दिखने वाली। जैसा रूप वैसा ही स्वभाव था उसका। उत्पाती, झगड़ालू। किसी से झगड़ा हो जाए और उसका पक्ष कमजोर लगने लगे, तो वह अपना नग्न चूतड़ दिखाती थी। थुहू-थुहू करके शत्रु की तरफ थूकती थी। उस वक्त वह बहुत ही घिनौनी लगती थी। छीना-झपटी में माहिर। इसीलिए तानी कबीले के लोगों ने उसको 'न्यिचिंग बेलिंग' अर्थात लाल चूतड़ वाली बंदरिया के नाम से बुलाना शुरू कर दिया।

तानी के लिए वह सिरदर्द तो थी ही, साथ ही उसके रिश्तेदार भी उससे किसी भी तरह कम नहीं थे। वह शेर थी, तो उसके परिवार वाले सवा शेर, ''ड़तानी हमारा दामाद है। तानी हमारा दामाद है। कौन हमारा क्या बिगाड़ लेगा'', यह कह-कहकर वे लोगों के नाक में दम कर देते थे। चोरी, लूट-पाट में बहुत ही आगे थे। मार-पीट और हत्या रोज का काम था उन लोगों का। उन लोगों ने तानी कबीले के कई लोगों की भी हत्या की थी।

हर दिन की शिकायतों से वह तंग आ गए। कभी मिथुन, कभी सुअर, कभी मुर्गियों इत्यादि से उनके अपराधों का जुमार्ना भरते-भरते बेहाल हो गए। पत्नी थी कि हर बात पर अपने मायके वालों का ही पक्ष लेते हुए, उनको भी उन्हीं का साथ देने को विवश करती रहती। उससे मुँह लगना ही अपने लिए मुसीबत को बुलाना होता था। जो बच्चे उस स्त्री से जन्मे, वे बिल्कुल अपनी माँ, मामा-मामी, मौसा-मौसी और नाना-नानी पर हुबहू गए। हर काम उल्टा ही करते थे। सब कुछ बिगाड़ देते। कहते थे, ''संसार में हमारा राज है! तानी की संतानों का राज है।'' बढ़ा-चढ़ाकर हर बात करते थे। कबीले वाले उनके उत्पात और आतंक से सदा डरे रहते। तानी उस कबीले के सरदार थे, इन सब कारणों से वह बहुत दुखी रहने लगे।

एक रोज तानी उन सभी को एक साथ बिठाकर समझाने का प्रयास करने लगा। वे समझने के बजाए लड़ने-झगड़ने लगे। मार-पीट पर उतर आए। पत्नी रो-रोकर आसमान सिर पर उठाते हुए बच्चों को लेकर मायके वालों के साथ चली गई......। बेटी का इस तरह वापस घर लौटना अपमान है। अब तो युद्ध होना ही था। 'तानी-गंग्रियंग' अर्थात तानी की तेज बुद्धि और शक्ति से लड़ना आसान नहीं था। उसके लिए अच्छी तैयारी आवश्यक थी। तानी की चालाकियों का कोई भरोसा नहीं, क्या जाने सारे पुरुष युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो जाएँ और पीछे भूखों मरते परिवार को छोड़ जाएँ। बेप्प कबीले के लोगों ने कई महीनों के लिए भोजन एकत्रित कर लिया। अनेकों विषैले तीरों को बनाकर भीषण युद्ध की तैयारी कर ली। इधर तानी कई दिनों बाद चैन की साँस लेते हुए आराम कर रहे थे। उन्होंने कोई तैयारी नहीं की। वह जानते थे, क्रोधी लोगों को बेवकूफ बनाना उनके बाएँ हाथ का खेल है। परिवार का ख्याल था, वरना पहले ही सारा खेल खत्म किया जा सकता था।

एक दिन शत्रु पक्ष के सारे पुरुष वर्ग मछली पकड़ने नदी को चले गए ताकि उन्हें सुखाकर महीनों खाया जा सके। नदी किनारे उनके तीर-धनुष रखे हुए थे। उन सभी लोगों का ध्यान नदी पर था। तानी ने 'अप्प-त-अर' जमा किया। उसे पीस-पीसकर महीन बनाया। उसके साथ सड़े हुए बदबूदार मीट मिला दिए। 'अप्प-त-अर' एक प्रकार की जंगली लताएँ हैं, जिसकी गंध बिल्कुल आदमी के पाद की तरह होती है। कई बार लोग उलझन में पड़ जाते हैं कि किसने पाद मारा? खैर, वह दबे पाँव आए, महीन चूर्ण को सारे तरकशों के अंदर डाल दिया। ढक्कनों को मजबूती से बंद करते हुए, उनकी रस्सियों का ऐसा ताना-बाना बुना कि कोई आसानी से उन्हें खोल न पाए और वह खुद झाड़ियों के अंदर छिप गए।

शाम को वे अपने-अपने तरकशों को शंकित-चकित होकर खोलने लगे। अरे, यह ताना-बाना किसने बुना? सारे तरकश बड़ी मुश्किल से खोले गए। बदबू अपना काम भयंकर रूप से करने लगा। ''उहू, उहू, उहू, छी, छी इसमें तो बदबू घुस गई है। ये तो उस बदमाश तानी का ही काम होगा! ओह, अब यह किसी काम का नहीं है'', कहते हुए वे अपने-अपने तीर, तरकाशों को नदी में फेंकने लगे। धनुर्धारी

तानी ने बिना मौका दिए तुरंत उनकी तरफ तीरों की बरसात कर दी। ...सारे के सारे मारे गए। तानी इस युद्ध में अकेले थे। अपने कबीले के लोगों की जानें वह यूँ ही कभी गँवाते नहीं थे।

2- कुसुक-दूरंग

पतझड़ का मौसम था। पीले पत्ते शाखाओं से टूट-टूट कर गिर रहे थे। हवाओं में उनका लहराते हुए धीरे-धीरे गिरना कितना सुंदर लगता है! पेड़ों पर, जमीन पर, उनकी मर्मर की ध्वनि युवतियों की सुंदर चुहलबाजी सी लगती है। आबोतानी बहुत ही ध्यान से यह सब देख रहे थे। उनका शरीर नृत्य बनकर थिरकने लगा। उनको होश ही नहीं रहा कि कुछ लड़कियां उन्हें देख रहीं हैं। जब वे हँसने-खिलखिलाने लगीं, उनकी आवाज से उसका नाचना थम गया। कितनी प्यारी लड़कियाँ थीं, पेड़ों पर नाचते पत्तों सी। वे लकड़ियाँ बीनने आईं होंगी। उन्हीं में दूरंग नामक एक दुबली-पतली और अलसाई सी आँखों वाली सुंदर सी लड़की थी। दोनों की आँखें चार हुईं। प्रथम प्रेम...। बिना किसी लाग-लपेट और छान-बीन के, दोनों साथ रहने लगे।

चार बच्चे हुए। कम उम्र में ही दोनों माता-पिता बन गए। तानी को पहली बार पारिवारिक जिम्मेदारियों का अहसास हुआ। वह रात-दिन एक करते हुए भोजन-पानी का इंतजाम करने लगे। पत्नी सूखे पत्तों सी संवेदनहीन थी। बहुत ही सुस्त। उसका अपना कोई निर्णय नहीं होता था, न ही बच्चों पर उसका नियन्त्रण। तानी उसे 'कुस्सुक-दूरंग' कहकर बुलाने लगे, जिसका अर्थ होता है दू सूखे पत्ते। मानो उसमे कोई प्राण ही न हो। हवा की मर्जी से चलती-फिरती थी।

उस स्त्री से जो संतानें जन्मीं, वे मक्खी-मच्छरों की तरह पिता का खून की चूसने वाली थी। शरीर आदमी का, परंतु मन और बुद्धि से पशु। सुस्त और निकम्मे। पानी लाने को कहो, तो जोंकों की तरह न में सिर झुका लेते। भरपेट खाओ, पड़े रहो। चटाई की तरह सुबह जिस तरह रखा गया, शाम तक वैसे ही पड़े रहो। स्वयं करवट तक नही लेना। लकड़ियाँ लाने को कहो, तो करवट बदल कर सो जाते। शिकार पर चलने को कहो, तो आसमान सिर पर उठा लेते।

इसी कथा के चलते एक मुहावरा प्रचलित हो गया- 'ओस्स बू न्यी-अ-तारुंग-तापिक हबे रीदू नला।' इसका अर्थ है- सुस्त लोग मक्खी-मच्छरों जैसे तकलीफदेह, कोपजनक और चिढ़ पैदा करने वाले होते हैं। लोग जंगली केलों और उसके तनों को उबाल-उबाल कर खाते थे। फल और सब्जियाँ उन्हें बचाते थे। भोजन की तलाश में तानी दिन-रात जंगलों का खाक छानते-फिरते। जिस दिन शिकार नहीं मिलता, भूखे पेट रहना होता था। घर था, लेकिन वह उनका अपना ही नहीं था। भोजन के लिए कीं-कीं, छीं-छीं करते परिवार में वह नितांत अकेले हो गए। पत्तों का मर्मर तानी को सुनायी नहीं देता था अब, न ही उनका हवा में लहराकर गिरना दिखाई देता था। ध्यान सिर्फ भोजन पर था।

अपरिपक्व उम्र थी, स्त्री-पुरुष के मिलकर चलने का अर्थ वे अभी नही समझ सके और दोनों से अपना परिवार संभाला नहीं गया। पर्याप्त भोजन के अभाव और अपने निकम्मेपन के कारण बच्चे कुपोषण के शिकार हो गए। बहुत कम उम्र से ही जिंदा रहने के तरीके सीखने पड़ते थे, जो वे नहीं सीख सके। भूख और बीमारी से सबकी मृत्यु हो गई...।

कुस्सुक-दूरंग तानी को छोड़कर अपने माता-पिता के पास लौट गई...। ▲▲▲

संपर्क : सहायक आचार्य, हिंदी विभाग,
राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर
अरुणाचल प्रदेश

नागार्जुन तथा बिष्णु प्रसाद राभा का काव्य : एक विवेचन

वहीदा परवेज़

हिंदी कविता का आधुनिक काल काफी उर्वर रहा है। इस साहित्यिक-युग की कविताओं का स्वर विविधिताओं से भरा हुआ है। भारतेंदु युग से समकालीन कविता तक, आधुनिक काव्य को राजनीतिक चेतना अलग अलग तरीके से प्रभावित, संचालित करती आ रही है। हिंदी साहित्य के फलक को राष्ट्रवाद, गांधीवाद आदि राजनैतिक विचारधाराओं ने वृहत आयाम दिया है, परंतु एक राजनीतिक आंदोलन के रूप में सबसे स्पष्ट स्वर हिंदी साहित्य की प्रगतिवादी काव्यधारा में दिखाई देता है। जनकवि नागार्जुन का संबंध हिंदी साहित्य की इसी काव्यधारा से है। उनकी कविता समाज के वंचित वर्ग के पक्ष में हमेशा खड़ी दिखाई देती है।

ठीक उसी समय असमिया साहित्य में एक ऐसे कवि जन्मे जिन्होंने असमिया साहित्य को राजनीतिक और सांस्कृतिक धरातल पर एक बड़े मुकाम पर पहुँचाया। वे आज असमिया साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। 31 जनवरी, 1909 ई. को ढाका (बांग्लादेश) में बिष्णु प्रसाद राभा का जन्म हुआ जो आगे जाकर असमिया साहित्य के शिखर रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

नागार्जुन का जन्म बिहार के मधुबनी जिले में 30 जून, 1911 ई. को हुआ। नागार्जुन एक ऐसे कवि थे जो अपने समय और समाज की जरूरतों के प्रति आवाज मुखरित करना अपनी प्राथमिकता समझते थे। उनका अधिकांश काव्य वंचित वर्ग की समस्याओं और सत्ता के दमन के खिलाफ संघर्ष की अभिव्यक्ति है। नागार्जुन के काव्य के अध्ययन से उस समय की राजनैतिक परिस्थितियों, सामाजिक संरचना, साहित्यिक सौंदर्य आदि का पता चल सकता है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान राजनीति का जो स्वरूप निर्धारित हो रहा था, खासकर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश की राजनीतिक अवस्था जैसी बनी, उसमें नागार्जुन जैसे कवि के लिए उदासीन होकर बैठ पाना संभव नहीं था। चाहे आजादी से पहले हो या बाद में, दोनों लेखक अपनी जनता का प्रतिनिधित्व करते हुए शासनतंत्र को फटकारते हुए नजर आते हैं। नागार्जुन और बिष्णु राभा दोनों लेखक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित थे और वामपंथी संगठनों के सदस्य भी रहे, जिसके चलते उन्हें जेल भी जाना पड़ा।

जिस समय नागार्जुन हिंदी पट्टी में जनता की इच्छा और आकांक्षाओं का स्वर बुलंद कर रहे थे, ठीक उसी समय असमिया साहित्य में बिष्णु प्रसाद राभा भी इसी विचारधारा के साथ अपने काव्य के माध्यम से उस क्षेत्र के जनांदोलनों को अभिव्यक्ति दे रहे थे। साहित्य, रंगमंच, अभिनय, निर्देशन, असम के सांस्कृतिक जीवन का शायद ही कोई कोना हो जिस पर बिष्णु राभा की छाप न हो। नागार्जुन की तरह बिष्णु राभा की कविताओं में भी सत्ता की दमनकारी नीतियों के खिलाफ आक्रोश झलकता है। उनका पूरा साहित्य समाज के निचले तबकों के शोषित, पीड़ित, उपेक्षित और दबे-कुचले लोगों के निमित्त है और साथ ही वे असमिया संस्कृति को भी अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

लेखक या कलाकार अपने काम के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व से भी जनता के दिलों में सदियों तक राज करते हैं। बिष्णु राभा और नागार्जुन यह दोनों ऐसे ही व्यक्तित्व हैं जिनको हम बार-बार याद करते हैं। जहाँ हिंदी पट्टी में नागार्जुन अपने व्यंग्यात्मक शैली से लोगों में आक्रोश बनाए रखे थे, वहीं बिष्णु राभा अपने प्रेरणात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से जनता को आंदोलित करते रहे। नागार्जुन के राजनीतिक व्यंग्य इस बात का प्रमाण हैं कि उनमें राजनीति के महत्व की पूरी और गंभीर समझ है। समाज और देश की प्रगति के प्रति नागार्जुन अपनी प्रतिबद्धता दर्शाते हुए कहते हैं-

'प्रतिबद्ध हूँ, सम्बद्ध हूँ, आबद्ध हूँ,
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ,
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ।'

बिष्णु प्रसाद राभा स्वाधीनता आंदोलन में सिर्फ अंग्रेजों का ही विरोध नहीं करते हैं बल्कि समाज के उन शोषक वर्ग का भी विरोध करते हैं जो अपने ही देश की साधारण जनता का शोषण करते हैं। वे लिखते हैं-

'देशे आछे दुइटी पाठा
एक्टि कालो एक्टि शादा
जोदि देशेर मोंगल चाऊ
दुईटी पाठाके बोली दाऊ।'

(इस देश में काले और गोरे दो तरह के शोषक चेहरे हैं, अगर हम इस देश का मंगल चाहते हैं तो हमें उन दोनों की बलि देनी होगी।)

उनकी ज्यादातर कविताएँ किसानों और मजदूरों के हक में लिखी गयी हैं। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान वे किसानों को अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने के लिए प्रोत्साहित करते हुए लिखते हैं-

''हल कूर दा हातुरी लोई रोनो लोई जाऊ बोल
आगबढ़ी जाऊ बोल आगबढ़ी जाऊ बोल

ओ बनुआ होमोनिया आगबढ़ी जाऊ बोल।''

(किसानों को हल, कूर, हथौड़ा लेकर युद्ध के लिए आगे बढ़ने को आह्वान करते हैं।)

दोनों रचनाकारों की रचनाओं को पढ़कर कई बार हमें ऐसा लगता है कि नागार्जुन में हम बिष्णु राभा को पढ़ रहे हैं और राभा में नागार्जुन को पढ़ रहे हैं।

नागार्जुन स्वयं को जनकवि घोषित करते हुए कहते हैं-

'जनता मुझसे पूछ रही है क्या बतलाऊं
जनकवि हूँ मैं साफ कहूँगा क्यों हकलाऊं।'

ठीक उसी तरह बिष्णु प्रसाद राभा अपने आपको कलाकार स्वीकार करते हुए कहते हैं कि- 'आप लोग मुझे कलाकार मानते हैं। अगर में सच में कलाकार हूँ तो वह भगवान ने नहीं बल्कि आमजन ने गढ़ा है।'

प्रथम दृष्टया हम देख सकते हैं कि अलग-अलग भाषा क्षेत्र में ये दोनों कवि अपनी कविताओं के माध्यम से न सिर्फ जनता के दुःख-दर्द को, उनकी पीड़ा को साहित्यिक अभिव्यक्ति दे रहे थे बल्कि सरकारी दमन और तानाशाही के खिलाफ खुद भी सड़कों पर आजीवन संघर्ष करते रहे तथा समरसता की संस्कृति विकसित करते रहे। आज वैचारिक पतन का समय है जो इस देश को प्रभावित कर रहा है। आज के इस कठिन समय में जब हमारी सांस्कृतिक एकता खतरे में है, हमें नागार्जुन और बिष्णु राभा को याद करने की जरुरत है और उनकी आवाज को एक बार और मुखरित करने की आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1- गुंजन, रामनिहाल, 'नागार्जुन रचना प्रसंग और दृष्टि', नीलाभ प्रकाशन, इलाहबाद।

2- गुहाई, हिरेन, 'होइनिक शिल्पी बिष्णु राभा', जर्नल एंपोरियम प्रकाशन, नलबारी।

3- तिवारी, अजय, 'नागार्जुन की कविता', वाणी प्रकाशन, दिल्ली

प्रणय, 'नागार्जुन की सामाजिक चेतना', यात्री प्रकाशन, दिल्ली।

4- सिंह, नरेन्द्र, 'साठोत्तरी हिंदी कविता में जनवादी चेतना' वाणी प्रकाशन, दिल्ली।

5- सिंह, नामवर (संपा.), 'नागार्जुन ः प्रतिनिधि कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

6- राय, डॉ अवधेश कुमार, 'कथाकार बाबा नागार्जुन', अनंग प्रकाशन, दिल्ली।

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, विश्वविद्यालय, दिल्ली

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली

आगामी **प्रकाशन**

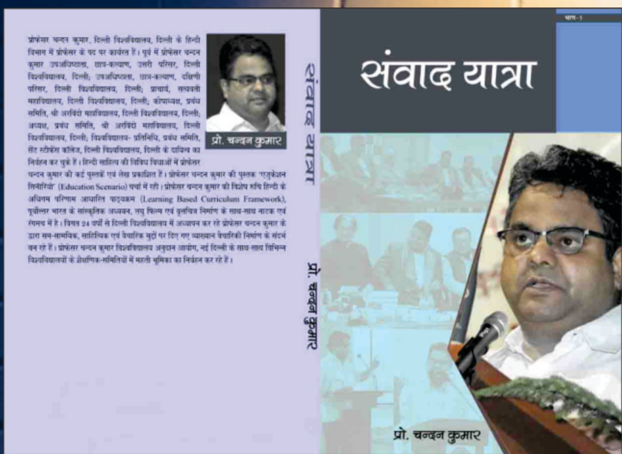

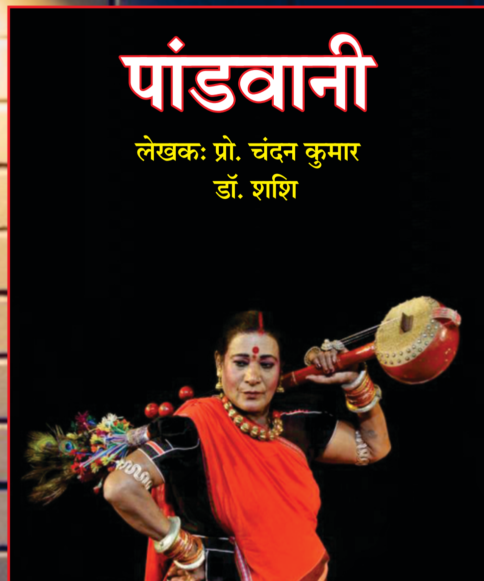

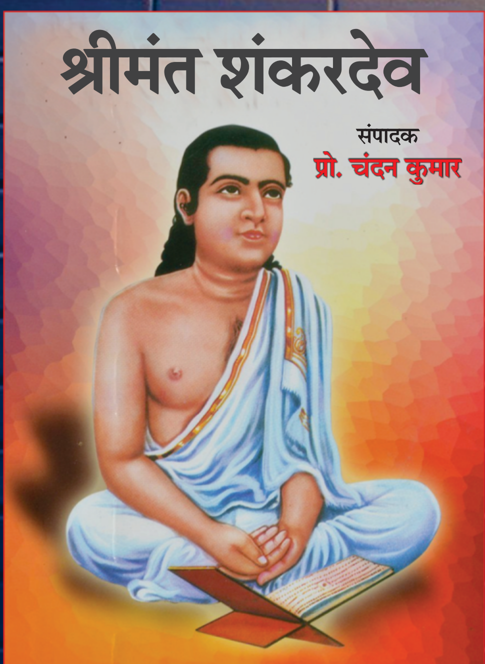

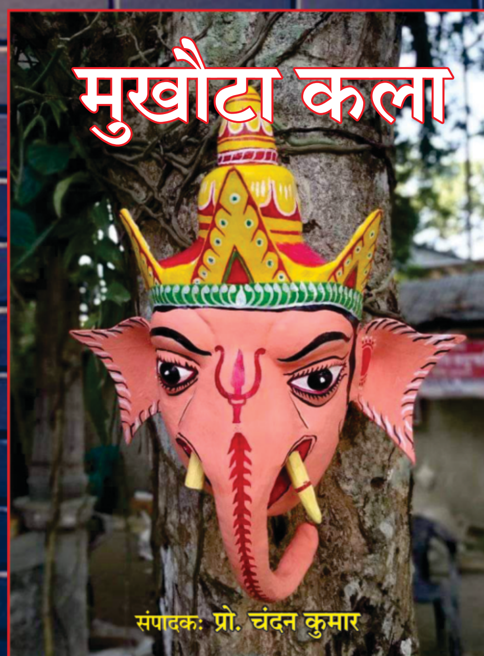

कार्यालय

यूनिट नंबर-108 (प्रथम तल), वर्धमान एसी मार्केट, सी. एस. सी., ब्लॉक-ई, सेक्टर-18 रोहिणी, दिल्ली-110089